

‘अन्तर की बात’

– सौ.लीलावती जैन

अन्तर की बात जब आती है तो किस अर्थ से पकड़ी जाए? ‘अन्तर की बात का एक अर्थ निकलता है—हृदय की बात ! सूक्ष्म अन्तरात्मा की बात ! बाहर की नहीं, मिथ्या भी नहीं ! इसका दूसरा अर्थ निकलता है, कि जब एक शब्द के, विषय में दो अर्थ लगा लिये जाते हैं, तब एक अर्थ और दूसरे अर्थ के समझने में अन्तर आ जाता है, फासला (Distance) पड़ जाता है, मतभेद हो जाता है या किसी एक भाव के स्थान पर दूसरा भाव पकड़ लिया है, जबकि दोनों भावों का अर्थ एक सा नहीं है, दोनों में अन्तर है। कदाचित् दो बातें एक दूसरे से विरोधी भी हो सकती हैं। दोनों अर्थों में जो अन्तर या फर्क है वह हमारी दृष्टि में कोई विशेष फर्क नहीं है।

‘अन्तर की बात’को जब कोई जिस स्तर पर पकड़ता है, और जब दूसरा उसे उस स्तर पर पकड़ नहीं पाता तो समझने में अन्तर पड़ जाता है। सूक्ष्म गहरी बात/ भाव को पकड़ना उसके ज्ञान का उघाड़ की योग्यता/क्षमता पर निर्भर होता है। जब दो व्यक्तियों की इस क्षमता में अन्तर(फासला) पड़ जाता है,तो दोनों एक दूसरे से असहमत हो जाते हैं और जब दोनों के ज्ञान का उघाड़ एक स्तर पर बात को पकड़ लेता है तो सहमति हो जाती है। Wave-length जाती है।

जिनभाषित के मई, जून-जुलाई 07 के सम्पादकीय लेखों को पढ़कर हमारी भी उनसे कुछ मुद्दों पर असहमति हो गयी। विशेषतः जो परमात्मप्रकाश 2/18 पृष्ठ 132 की संस्कृत टीका का अनुवाद उचित नहीं लगा। यद्यपि हमारा संस्कृत व्याकरण का सूक्ष्म अध्ययन नहीं है, फिर भी ‘भण्यते’ तथा ‘विद्यते’ का अर्थ ‘था’ – ऐसा भूतकाल वाचक कैसे हो सकता है? कहीं अपनी बात मनवाने का प्रयास तो नहीं है? इसकी टीका का हिन्दी अनुवाद का मिलान जब हमने मूल ग्रन्थ से किया तथा सम्यक् सम्यत्व चर्चा(धर्ममंगल-नवम्बर 06 का अंक) में विद्वद्गुरु पण्डित श्री रतनलाल जी बैनाड़ा द्वारा किये अनुवाद से भी मिलान किया तो देखा कि दोनों बिलकुल सही अर्थ में ‘भण्यते’ एवं ‘विद्यते’ शब्दों का अर्थ वर्तमान का वाचक में ही किया गया है।

लगता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन को जो गृहस्थावस्था में तीर्थकर आदि के होता है, उसे बलात् सराग सम्यग्दर्शन सिद्ध करने के लिए उपचार से वीतराग सम्यक्त्व कहा है - ऐसा सिद्ध किया जा रहा है और जो व्यवहारसंयम, सरागसंयम, अपहृतसंयम है; उसे बलात् निश्चय संयम, वीतरागसंयम, परमोपेक्षासंयम सिद्ध किया जा रहा है - यह क्या न्याय है? अतः विद्वज्जनों को इस विषय पर गहराई से ऊहापोह कर निर्णय करना चाहिए। इससे ऐसा लगता है कि अविरतसम्यग्दृष्टि को या देशसंयमी (संयमासंयमाचरणी) को निश्चयसम्यक्त्व या स्वसंवेदन/स्वानुभूति या सामायिकादि के काल में होने वाला शुद्धोपयोग सिद्ध न हो जाए, इसलिए यह बलात् आगम के अर्थ को तोड़ा-मरोड़ा तो नहीं जा रहा है?

चूँकि ये विचार आचार्यश्री (विद्यासागरजी महाराज) के प्रवचनांश हैं अतः कहीं हम तो नहीं चूक रहे हैं? - इस विचार से हम उन सन्दर्भों को छानने में जुट गये, पर उन शंकाओं का समाधान नहीं हुआ। फिर अन्य विद्वानों से चर्चा आरम्भ हो गयी ! क्षयोपशम के सारे सन्दर्भों को छान लेने पर लगता है, कहीं हम-अल्पमती की बुद्धि में कमी तो नहीं है? क्योंकि हमारे अधूरे ज्ञान के उघाड़ के कारण हमें कहीं भी छेद नजर नहीं आता? तो हम इस विचार पर पहुँच कर समाधान करने बैठ गये कि उन आचार्यश्री ने जो कहा उसे लिखने वाले ने सुनकर लिखा होगा तो उनके समझने में अन्तर आ गया होगा और उन्होंने जो जैसा जितना समझा, वैसा लिख दिया-वाली बात हो गयी होगी अतः अगले कुछ अंकों में उन विषयों पर और कुछ जानने की बात आयी हो तो हम उसे देखने में लग गये। पर काश! हमारा समाधान नहीं हो पाया !

यदि आचार्यश्री ने ये बातें कहीं है तो उनसे; और जिनने सुनकर लिखी हैं उनसे भी पूछा जाये तो वे अपनी ही बात दोहरायेंगे न ! तो सुसंवाद भले ही हो पायेगा, पर समाधान क्या होगा? अतः पूछने की बात चलाने का मन नहीं हुआ। हाँ ! विद्वत् जगत बहुत बड़ा है(भले ही दो विचारधाराओं में बँटा हो) उन सबके सामने अपनी 'अंतर की बात' रखने का भाव आया है, अतः यह छोटी सी पुस्तक आपके हाथ में दे रहे हैं और आप विद्वद्वर्ग से करबद्ध प्रार्थना है कि हम अल्पमती का स्तर वहाँ तक उठाने में हमारी मदद, मार्गदर्शन करें, जहाँ हमारा समाधान हो सके।

एक बात यह भी है कि आचार्यश्री के प्रति हमारी अटूट श्रद्धा अत्यधिक आदर की भावना है, उनके चरणों में अपार श्रद्धा से सदैव माथा झुका है, तो हमने सोचा कि वे जो कहते हैं वह सब सही होगा - ऐसी मनोभूमिका ही बना ली जाये, पर फिर भी मन नहीं मानता, क्यों कि समाधान स्तर तक पहुँचे बिना चैन कहाँ? जहाँ शंकाएँ हैं, वहाँ समाधान कैसा? पूर्वाचार्य की टीकाओं में टीकाकारों ने किये अर्थनिष्पत्ति में दोनों प्रकार के-निश्चय और व्यवहार-अर्थ निकालकर दिखाये हैं। यहाँ भी कुछ टीकाकार यह कहते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में अनुभूति एवं शुद्धोपयोग होता है। कुछ टीकाकार को यह मान्य नहीं, तो ज्ञानी को दोनों मतों को सामने रखना चाहिए।

जब कोई यह कहे कि 'ऐसा होता 'ही' नहीं है ; उसके लिए अपने मनोनुकूल टीकाकारों के वचन उद्धृत कर दें तो एकान्त पक्ष का समर्थन हुआ न? दूसरा उन टीकाकारों के वचनों के आश्रय से बता दें कि 'हाँ, होता है, ये उसके सन्दर्भ हैं ' तो पहला पक्ष दूसरे पक्ष को एकान्त पक्ष का ही समर्थक मानने लग जाता है। ऐसा माध्यस्थ्यभाव कि 'कभी होता है, कभी नहीं होता' तो वह भी सही समझ से दूर ही रहता है, क्यों कि विवाद की बला टालने हेतु ऐसा माध्यस्थ्यभाव से समझकर विषय को अलग रखा जाता है। तब जिज्ञासु को समाधान कहाँ ? ऐसी स्थिति में मूल सर्वज्ञप्रणीत-अभिप्राय तक कैसे पहुँचें? दोनों पक्ष अपने ही मत का हठाग्रह पकड़कर बैठ जाये तो विषय सम्बन्धी-शंका का निर्णय करना मुश्किल होता है। समाधान चाहने वाले हमारे ज्ञान के उघाड़ पर भी काफी कुछ निर्भर होता है। इस पंचमकाल में सभी छद्मस्थ-निर्भर होता है तथा इस पंचमकाल में हम सभी छद्मस्थ-संसारी जीव अपने ज्ञान उघाड़ के स्तर पर आधे-अधूरे ही हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय - 2 सूत्र 1 में जीव के जो असाधारण पाँच भाव (उत्तरभेद से 53 भाव) कहे हैं, उनमें क्षायोपशमिकभाव की स्पष्टता मुझे ठीक से नहीं हो पा रही थी क्योंकि औपशमिक व क्षायिकभाव तो पूर्ण निर्मल भाव होते हैं, औदयिक भाव पूर्ण मलिनभाव होते हैं, क्षायोपशमिकभाव को मिश्रभाव भी कहते हैं। अर्थात् जिसमें मलिनता के साथ निर्मलता भी हो उसे किस प्रकार घटित कर समझना? विशेषकर चारित्र गुण की पर्याय जो मुनिराजों के क्षायोपशमिकभाव रूप होती है, क्योंकि उनको मुख्यरूप से शुद्धोपयोगी और गौणरूप से शुभोपयोगी

कहा है अतः उनको संवर-निर्जरा के साथ-साथ पुण्यास्रवबन्ध भी होता है। जबकि पारिणामिकभाव जीव का उक्त चार भावों से निरपेक्ष एक रूप त्रिकाली जीव स्वभाव है।

इन औदयिकादि चार आपेक्षिक (सापेक्ष) भाव या परभावों से उक्त सहज कारणस्वभाव रूप ज्ञान-दर्शन अगोचर है। इन चार में से एक औदयिक भाव विकारी पर्याय है, और अन्य तीन निर्विकारी पर्यायें हैं। परन्तु अन्तर में जो निजस्वभाव सत्तामात्र, निरावरण, निरपेक्ष, निष्क्रिय कारणज्ञान-दर्शन और सहज कारणश्रद्धा रूप त्रिकाली स्वभाव है, वह सहज परमपारिणामिकस्वभाव है।

जैसे प्रकाश के प्रगट होने पर अंधेरा कितना ही घना क्यों न हो, नष्ट हो जाता है, वैसे ही सहज परमपारिणामिक भाव के आश्रय से या उसके प्रगट होने पर सारे मिथ्याभाव, विभावभाव नष्ट हो जाते हैं; पर्याय भी निर्मल हो जाती है। वर्तमान निरन्तर वर्तती पर्याय के आश्रय से कोई निर्मल पर्याय नहीं होती। चार विभाव भावों का आश्रय लेने से परमपारिणामिक भाव का आश्रय नहीं हो सकता। परमपारिणामिक भाव का आश्रय करने से ही सम्यक्त्व से लेकर मोक्ष तक की दशाएँ प्राप्त हो सकती है। इसप्रकार यह 'अन्तरात्मा की बात' है, जो अन्दर निश्चय में होगा वही तो बाहर व्यवहार में आएगा। उस त्रिकाली अनादि-अनन्त आत्मवस्तु में परवस्तु और क्षणिक पुण्य-पाप का होनापना तो दूर, उसका वर्तमान खण्ड-खण्ड रूप जानने का जो क्षयोपशम है, जो ज्ञान की वर्तमान दशा या प्रगट अंश है, वह भी त्रिकाली आत्मवस्तु में नहीं है।

सारांश यह हुआ कि कारणरूप उपयोग और कारण-दृष्टि ऐसा जो आत्मस्वभाव है वह शुभाशुभराग से प्राप्त नहीं है अर्थात् अन्तर में जो कारणदृष्टिमय स्वभाव है, वह शुभ-प्रशस्त राग से भी ज्ञात हो ऐसा नहीं होता। सुख का मार्ग तो अन्तर में है वह शुभ या अशुभ राग से प्राप्त नहीं होता। कितनी भी राग की मन्दता कर शुक्ललेश्या रूप दशा क्यों न प्रगट करें, अन्तर के चैतन्य स्वभाव के आश्रय या शरण में जाने के अलावा कोई मार्ग नहीं है। उस अकृत्रिम, परम स्व-स्वरूप, अविचल स्थितिमय शुद्ध स्थिति को ही चारित्र नाम दिया जाता है।

एक समयवर्ती पर्याय जितना आत्मा को मानना-यही बड़ी भूल है, भ्रम है। आ. कुन्दकुन्द और उनके परवर्ती टीकाकार, पर्याय का आश्रय छुड़ाने के लिए

पर्याय का ज्ञान अवश्य कराते हैं परन्तु उसे भी हेय कहकर प्रयोजन तो मोक्षमार्ग का ही समझाते हैं; इसीलिए कहते हैं कि मोक्षमार्ग, पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होता।

हम सोचते हैं कि क्या ज्ञानीजन यह जानते नहीं होंगे? जिन्होंने पंच परमागम के अनेक बार वाचन किये हों वह ऐसी 'अंतर की बात' न जाने - ऐसा कैसे हो सकता है? इन विचारों के पश्चात् हमारी सोच यहाँ तक पहुँचती है कि जितने व्यक्ति, 'उतनी प्रकृतियाँ' का मतलब यही होगा कि हर एक व्यक्ति की ज्ञान उघाड़ की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। हर किसी को अपनी संसारी अवस्था की स्थिति का, आधे-अधूरे ज्ञान-दर्शन के उघाड़ का भान सदैव रखना चाहिए। किसी भी तत्त्व या वस्तुस्वरूप को समझते/विवेचन करते समय, अपने ज्ञान में जहाँ तक किसी मत का स्पष्टपना उजागर होता है, उसी के अनुसार बात को पकड़ना या समझना पड़ता है, यह ध्यान में लेकर हम भी अपनी अपूर्णता को समझकर ही विवेचन कर रहे हैं, हो सकता है कि हमारी इस योग्यता के अनुसार कुछ नजर से ओझल रहा हो या छूट गया हो; अतः ऐसा 'ही' है इसके स्थान पर कहना चाहिए कि ऐसा 'भी' हो सकता है, ऐसा हम सोच रहे हैं क्यों कि हमारी समझ में इतना ही आया है।

एक बार ब्र.पं. श्री हेमचन्द्रजी जैन 'हेम' (भोपाल) का 1.9.07 को पुणे आना हुआ। मैंने अपने अन्तर की बात-आगम सम्बन्धी शंकाओं के समाधानार्थ उनके सामने रखी। वे मुझे आगम प्रमाणों से समाधान करने वाले, निष्पक्ष विचारक, सत्यशोधक विद्वान लगे। जो शंकाएँ जिनभाषित के मई और जून-जुलाई 2007 के संपादकीयों को पढ़कर मेरे मन में उठी थीं वे उनके सामने रखीं। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं -

1. निश्चयसम्यग्दर्शन क्या शुभोपयोगरूप भी होता है?
2. क्षायोपशमिकभाव को मिश्रभाव क्यों कहते हैं? विशेषकर क्षायोपशमिक चारित्र क्या है? समझाइए। क्या इस विषय पर आपने कभी आचार्यश्री से बात की है?
3. निमित्त-नैमित्तिक एवं कर्त्ता-कर्म सम्बन्धों में क्या कुछ अंतर होता है?
4. दैव बनाम पुरुषार्थ या नियति बनाम पुरुषार्थ पर भी आगम क्या कहता है? स्पष्ट करें।

समयाभाव में भी उन्होंने कुछ बातें समक्ष समझायीं। आगम-प्रमाण देते हुए काफी पत्राचार भी हुआ, परन्तु विस्तृत समाधान माँगने पर भाई ब्र. पं. श्री हेमचंद जी ने उपरोक्त सभी शंकाओं के जवाब विस्तृत रूप से हमें लिख भेजे। जो कुछ हाथ आया वह पढ़कर हम अल्पमती का समाधान तो हुआ है, परन्तु विचार यह आता है कि उक्त जिनभाषित के संपादकीय पढ़ने पर विद्वानों के मन में भी कुछ शंकाएँ तो अवश्य ही उभरी होगी; अतः वह सारी चर्चा क्रम से, सुव्यवस्थित उनसे ही लिखाकर इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया; ताकि धवला आदि के माध्यम से जो प्रमाण भाई ब्र. पं. हेमचन्दजी ने दिये हैं, उन्हें छानने का, या उनको ध्यान में रखकर उक्त विषयों पर विचार करने का मौका सब को मिले और समाज विवादित विषय पर निर्णय कर सकें, दिग्भ्रमित होने से बचें, अनेकों को उसका लाभ मिले और अगर इस विषय में और कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, जो हमारी नजर से ओझल रह गयी हो, उन्हें भी सुधारने का हमें भी मौका मिले।

विद्वद्वर्यो से करबद्ध प्रार्थना है कि वे अपने अभिप्राय से अवगत करावें। भाव किसी के अविनय का नहीं है, केवल सत्यार्थ तक पहुँचने में हम सब एक दूसरे के पूरक बनें यही भावना भाते हैं। अगर किसी के भावों को ठेस पहुँचती है तो क्षमा चाहते हैं। हमारे ये विचार किसी व्यक्ति विशेष से प्रभावित नहीं हैं; बस, हम तो आगम के आलोक में आगम-अध्यात्म का मर्म जानना चाहते हैं, जिससे विरोधाभास मिट सके। अगर कुछ भी नहीं बनता है तो इस चर्चा के बहाने हमें अपनी शंकाओं को मिटाकर अपना ज्ञान निर्मल करने का अवसर प्राप्त हुआ, हमारे लिए यह भी कुछ कम लाभ नहीं है; हमें उसी में सन्तोष है।

आशा है कि इस कृति को भी हमारी इसी योग्यता के अनुसार आप विद्वद्वर्य पढ़ेंगे और अगर हमारी सोच में कहीं कुछ अधूरा हो, छूट गया हो तो अवगत करायेंगे, मार्गदर्शन करेंगे ताकि समाधान की सीमा तक हम सभी अपने आप को पहुँचा सकें।

प.पू. अध्यात्मयोगी 108श्री वीरसागरजी महाराज की पुण्यतिथि (यम सल्लेखना-10.3.93) के अवसर पर इस 'सम्यक् तत्त्वचर्चा विशेषांक' का प्रकाशन करते हुए हम आनंद का अनुभव कर रहे हैं। उनके उपदेश से प्राप्त यह ज्ञानधन उनके ही पावन चरणों में सादर समर्पित है। सभी के आत्मकल्याण की शुभकामना के साथ-

ब्र. श्री हेमचंदजी जैन का एक पत्र-

देवलाली, 07.9.2007

आदरणीया धर्मजिज्ञासु बहिन प्रा.सौ.लीलावतीजी जैन,(संपादिका, धर्ममंगल) सादर जयजिनेन्द्र, दर्शन-विशुद्धि। अत्र स्वाध्याय-ध्याना-मृत-पानबलेन कुशलं तत्राप्यस्तु।

जब मैं पुणे आया था तो आपके साथ काफी तत्त्वचर्चा हुई थी, आपको जिनभाषित के सम्पादकीयों के बारे में कुछ शंकाएँ थीं। आपको उस समय तो अधिक समय नहीं दे पाया, परन्तु आपसे जो शंकाएँ, मैं लिखकर लाया था, उनपर तथा जिनभाषित के उन संपादकीयलेखों पर विद्वत्-परिषद के कुछ विद्वानों ने भी ऐसी ही कुछ शंकाएँ मेरे से पूछी हैं। पहले तो कुछ जवाब देने का मन नहीं हुआ। फिर जब उन विद्वानों से भी मेरी प्रत्यक्ष चर्चा हुई - जिनमें सर्वश्री डॉ. राजेन्द्रजी बंसल, ब्र. पं. राजमलजी, ब्र. यशपालजी जैन, डॉ. संजीव गोधा आदि मुख्य हैं और उनकी ओर से भी आपके प्रश्नों पर विस्तृत जवाब देने का उनका आग्रह रहा; तब उसके जवाब में यह विस्तृत, आगम प्रमाणपूर्वक चिन्तन, 'सम्यक् क्षायोपशमिक भाव' एवं 'नियति बनाम पुरुषार्थ' - इन दो मुख्य लेखों द्वारा प्रस्तुत है। हो सकता है कि ये दोनों लेख, इन विषयों का पूर्ण समाधान नहीं दे पायें, क्योंकि मैं भी अल्पबुद्धि हूँ, परन्तु आपको अनेकशः धन्यवाद देता हूँ कि इस बहाने मुझे धवलादि ग्रन्थों के माध्यम से उक्त विषयों का पुनः अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हो हुआ; इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब जिनागम का - प्रवचनसार एवं धवलादि ग्रन्थों का है। वही हम सबके लिए शरण्य है। खैर! सोचता हूँ, जीवन के इस तृतीय चरण में शान्ति से अपने घर की छाँव में बैठकर, मुझे जिनवाणी का स्वाध्याय और अधिक गहराई से करते रहना चाहिए। हमारा आचरण कम से कम कुछ मोह-क्षोभ से रहित तो हो ही जाना चाहिए। पं.श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार की 'मेरी भावना' सब जीवों की भावना भी बन जाए - ऐसी भावना सदैव होती रहती है, अतः आपसे विशेष प्रार्थना है कि आप इस विषय पर अन्य विद्वानों से भी चर्चा कर, समाधान प्राप्त कर लीजिए

तथा अगर उचित लगे तो प्रकाशित करें, ताकि मुझे और सबको लाभ मिले। श्रीमद् आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित **आप्तमीमांसा** की प्रत्येक कारिका मंगलाचरणस्वरूप है, अतः तत्त्ववेत्ता भक्त कह उठता है -

स त्वमेऽवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

अर्थ - (हे वीर जिनेन्द्र भगवान !) वह निर्दोष (सर्वज्ञ) आप ही हैं, क्योंकि आपका वचन युक्तिशास्त्र से अविरोधी है और यह अविरोध, इस तरह से लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है अर्थात् जीवादि तत्त्वों की प्ररूपणारूप जो आपका अनेकान्त शासन है और वह प्रसिद्ध (प्रमाण) से बाधित नहीं होता है।

जैनदर्शन जन-जन का दर्शन है। बस, सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्चारित्र की दो मात्रा लगते ही वह व्यक्ति 'जन' से 'जैन' बन जाता है। किसी को भी जनमत या बहुमत से धर्म का निर्णय नहीं करना चाहिए। धर्म का निर्णय तो जिनमत से या जिनागम से अर्थात् चारों अनुयोगों से करना चाहिए। जो व्यवहार धर्मकार्य अभव्य भी कर सकता है, यदि वही कार्य भव्य जीव भी कर दिखाये तो उसमें उनकी-भव्यत्व की भव्यता क्या रही? वस्तुतः तत्त्वनिर्णय बिना तत्त्वज्ञान ही सच्चा नहीं होता। तत्त्वज्ञान बिना शुद्धात्माभिमुख उपयोगरूप आत्मध्यान नहीं होता और आत्मध्यान बिना स्वानुभवरूप निश्चयसम्यग्दर्शन भी प्रगट नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान व चारित्र भी सम्यक् नहीं होते।

आत्मानुशासन श्लोक 182 में संसार का बीज मोह को कहा है -

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।

तस्माज्ज्ञानाऽग्निना दाह्यं, तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२॥

अर्थ - जैसे, बीज से वृक्ष की जड़ और अंकुर होता है, वैसे मोहरूपी मूल कारण (अज्ञान) से आत्मा को राग-द्वेष होते हैं; इसलिए जो जीव, राग-द्वेष का नाश करना चाहते हैं, उन्हें ज्ञानरूपी अग्नि से मोह को दग्ध करना चाहिए।

भावार्थ - अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव को मोह कहते हैं और पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनसे प्रीति-अप्रीति करना राग-द्वेष है। अतः अतत्त्वश्रद्धान से ही पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होते हैं। इसलिए जैसे वृक्ष की जड़ और अंकुर का मूल कारण बीज है, वैसे राग-द्वेष का मूल कारण मोह को

जानना चाहिए। जैसे अग्नि बीज को जलाती है, वैसे ज्ञान मोह का नाश करता है। ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप यथार्थ जानने पर अतत्त्वश्रद्धान का नाश हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए। इतना करने से सर्व सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।

सामान्य से सर्व संसारी जीवों के 'अनादि संबंधे च।' (तत्त्वार्थसूत्र, 2/41) इस सूत्रानुसार तैजस और कार्मण - ये दो शरीर अनादि से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं। विशेष की अपेक्षा पहले के शरीरों का संबंध नष्ट होकर, उनके स्थान में नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है। जीव से सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मणशरीर कहते हैं।

उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय - ये चार घातिकर्म हैं, तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु ये चार अघातिकर्म हैं। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय - इन तीन घातिकर्मों की उदय, क्षय और क्षयोपशम - ये तीन अवस्थाएँ ही होती हैं और मोहनीयकर्म (जिसके दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय - ये दो भेद हैं।) की उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम - ये चारों अवस्थाएँ होती हैं। शेष चारों अघातिकर्मों की उदय और क्षय - ये दो ही अवस्थाएँ होती हैं।

स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं और कर्मों के उदय से जीव का जो मलिनभाव होता है, उसे औदयिकभाव कहते हैं, इसके 21 भेद होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र-काल और भाव के निमित्त से मोहनीयकर्म की शक्ति के प्रगट न होने को उपशम कहते हैं और दर्शनमोह व चारित्रमोह - इन कर्मों के उपशम से आत्मा का जो निर्मल भाव होता है, उसे औपशमिकभाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं- औपशमिकसम्यक्त्व एवं औपशमिकचारित्र।

कर्मों के समूल विनाश होने को क्षय कहते हैं। कर्मों के क्षय से जीव का जो निर्मलभाव होता है, उसे क्षायिकभाव कहते हैं, इसके नौ भेद हैं। घातिकर्मों में सर्वघाति और देशघाति - दो प्रकार के स्पर्द्धक (परमाणु) होते हैं। जो जीव के सम्यक्त्व तथा ज्ञानादि अनुजीवी गुणों को पूरी तौर से घातें, उसे सर्वघाति स्पर्द्धक कहते हैं और जो एकदेश घातें, उसे देशघाती स्पर्द्धक कहते हैं।

वर्तमानकाल में उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा

आगामी काल में उदय आने योग्य उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और देशघाती स्पर्द्धकों के उदय सहित कर्मों की अवस्था होने को 'क्षयोपशम' कहते हैं और कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से जीवों का जो मिश्रभाव होता है, जिसमें सर्वघाति स्पर्द्धकों के अनुदय से उत्पन्न निर्मलता तथा देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से उत्पन्न मलिनतारूप मिश्र-अवस्था होती है, उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। उसके 18 भेद हैं।

तथा जीव का जो भाव, कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा न रखता हुआ आत्मा का शुद्ध जीवत्वरूप स्वभावमात्र हो, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। यही पारिणामिकभाव, साधक अन्तरात्माओं के ध्यान का ध्येय होता है। यह भाव, द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्मों से रहित एक शुद्ध चिद्रूप अविनश्वर सत्तामात्र अनन्त गुण-धर्म-शक्तियों का पिण्डरूप चैतन्यभाव है, जो सदैव 'उपयोग लक्षण' से लक्षित रहता है।

ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अनादि से ही प्रगट क्षायोपशमिकभावरूप अवस्था, जीवों के अपने-अपने आवरण कर्मों के क्षयोपशम अनुसार पायी जाती है, जो बारहवें गुणस्थान तक रहती है। यही जीवों के स्वभाव का व्यक्त अंश है, जिससे जानन-देखन क्रिया सदैव होती रहती है।

श्रद्धा व चारित्र गुणों की अनादि ही से औदयिकभावरूप अवस्था (मिथ्यात्व-कषायरूप अवस्था) जीवों के अपने-अपने मोहनीयकर्म के मन्द-तीव्र उदयानुसार पायी जाती है।

जब कोई भव्यात्मा जिनोपदिष्ट तत्त्वों का श्रवण-ग्रहण कर शुद्धात्माभिमुख (करणलब्धि में प्रविष्ट होकर) निर्विकल्प स्वसंवेदनपूर्वक प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है; तब स्वरूपाचरणस्वरूप सम्यक्त्वाचरण को प्राप्त करता है। पश्चात् सकलसंयमाचरणी हो, यथाख्यात क्षायिकचारित्र प्रगट कर सर्वज्ञ होकर अरिहंतावस्था पा जाता है और अघाति कर्मों का स्वयमेव क्षय होने पर अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त कर सादि अनन्तकाल तक लोकाग्र में जा सुस्थित रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि औपशमिकभाव के बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती, क्षायिकभाव के बिना धर्म की पूर्णता नहीं होती, अरिहंत-सिद्ध नहीं होते। क्षायोपशमिकभाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं होता। औदयिकभाव के बिना कोई संसारी नहीं होता और जीवत्वभाव/पारिणामिकभाव के बिना कोई जीव नहीं होता।

क्षायोपशमिकभाव संबंधी आगम प्रमाण

यहाँ कुछ प्रमाण दे रहा हूँ तथा 20 सितंबर 1994-क्षमावणी के दिन रामटेक में विराजमान आचार्यश्री विद्यासागर जी से जो चर्चा हुई थी, वह भी अंत में दे रहा हूँ।

(1) धवला पु. 5 (4/194)

पडिबंधिकम्मोदए संते..... खओव समिओ।

अर्थ - प्रतिबंधी कर्म का उदय होने पर जो जीव के गुण का अवयव पाया जाता है, वह गुणांश क्षायोपशमिक कहलाता है, क्योंकि गुणों के संपूर्ण रूप से घातने की शक्ति का अभाव क्षय कहलाता है। क्षय रूप ही जो उपशम होता है, वह क्षयोपशम कहलाता है। उस क्षयोपशम में उत्पन्न होने वाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है।

(2) धवला पु. 12 (254/457)-

ण च सुहम.....सण्णाणुवत्तीदो वा।

अर्थ - सूक्ष्म सांपरायिक गुणस्थान में मोहनीय का भाव नहीं हो, ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि भाव के बिना द्रव्य कर्म के रहने का विरोध है। अथवा वहाँ भाव के न मानने पर 'सूक्ष्म सांपरायिक' यह संज्ञा ही नहीं बनती है।

(3) कषाय पाहुड- 1/1 (पृ. 60) -

'तं च कम्मं सहेअं विरायदादो।'

अर्थ - जीव से सम्बद्ध कर्म को सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा निर्व्यापार अर्थात् अयोगियों के भी कर्मबन्ध का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। (वस्तुतः) उस कर्म के कारण मिथ्यात्व असंयम और कषाय हैं, सम्यक्त्व, संयम व वीतरागता नहीं।'

(4) धवला पु. 7 (49/92) -

सव्वधादिफहयाणि.....खओवसमो णाम।'

अर्थ - सर्वघाति स्पर्द्धक अनंतगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्द्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाति स्पर्द्धकों का अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है और उनका देशघाति स्पर्द्धकों के रूप से अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है।

(5) धवला पु. 5 (1/185) -

'कम्मोदये संते..... खओवसमियो भावो णाम।'

अर्थ - कर्मों के उदय होते हुए भी जो जीव गुण का खंड (अंग) उपलब्ध रहता है वह क्षायोपशमिक भाव है।

(6) धवला पु.1 (14/177) -

‘पञ्चसु गुणेषु.....प्रत्याख्यानसमुत्पत्तेः।’

अर्थ - (प्रश्न) पाँचों भावों में से किस भाव का आश्रय लेकर यह प्रमत्त संयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

उत्तर - संयम की अपेक्षा यह क्षायोपशमिक है।

प्रश्न - क्षायोपशमिक किस प्रकार है ?

उत्तर - क्योंकि वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदय-क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आने रूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान अर्थात् संयम उत्पन्न होता है। इसलिए क्षायोपशमिक है। (ठीक इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है। (देखिए-धवला पु.1-15/180)

(7) धवला पु. 1 (13/175) -

‘औदयिकादि पञ्चसुगुणेषु.....प्रत्याख्यानानुपपत्तेः।’

अर्थ - प्रश्न - औदयिकादि पाँचों भावों में से किस भाव के आश्रय से संयमासंयमभाव पैदा होता है ?

उत्तर - संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमानकालिक सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने योग्य उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान चारित्र उत्पन्न होता है।

प्रश्न - संयमासंयमरूप देशचारित्र के आधार से सम्बन्ध रखने वाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं ?

उत्तर - क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनों में से कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्प से होता है। क्योंकि उनमें से किसी एक के बिना अप्रत्याख्यान चारित्र का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता।

शंका - सम्यग्दर्शन के बिना भी देशसंयमी देखने में आते हैं ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि जो जीव मोक्ष की आकांक्षा से रहित है और जिनकी विषय पिपासा दूर नहीं हुई, उनके अप्रत्याख्यानसंयम की उत्पत्ति हो नहीं सकती है।

8) धवला पु. 1 (130/380) -

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयताशेषपापक्रियत्वात्।’

अर्थ - प्रश्न - कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते हैं?

समाधान - नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

प्रश्न - सिद्ध जीवों के कौनसा संयम होता है ?

समाधान - एक भी संयम नहीं होता उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्ति का अभाव होने से जिसलिए वे संयत नहीं हैं, इसलिए संयतासंयत नहीं हैं और असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि उनके संपूर्ण पापक्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

9) धवला पु. 7 (56/96) -

‘संजमो णाम जीव सहाओ ...लक्षणताभावाद्।’

अर्थ - प्रश्न - संयम तो जीव का स्वभाव ही है, इसलिए वह अन्य के द्वारा अर्थात् कर्मों के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका विनाश होने पर जीव द्रव्य के भी विनाश का प्रसंग आता है?

उत्तर - नहीं आयेगा, क्योंकि जिस प्रकार उपयोग जीव का लक्षण माना गया है, उसप्रकार संयम जीव का लक्षण नहीं होता।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि - ‘चारित्र जीव का स्वभाव है, पर संयम नहीं।’ संयम तो हिंसादि सावद्य योग के त्याग का नाम है। जो त्रसादि की हिंसा से निवृत्त एक देश हो तो अणुव्रत और सर्वसावद्य योग से सर्वदेश निवृत्ति हो तो महाव्रत रूप संयम होता है। जब कि चारित्र नाम वीतरागता का है, जो महाव्रत रूप संयम के पालने रूप निमित्त (उचित बहिरंग साधन की सन्निधि) की अनुकूलता में स्वभाव के आश्रय से व्यक्त होता है और सादि-अनन्तकाल तक वर्तता रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो संयम तो अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति रूप होता है और चारित्र शुभ व अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति रूप तथा शुद्धात्मा में प्रवृत्ति रूप शुद्ध परिणति रूप, (स्वरूपाचरण रूप, सकल कषाय रहित एक वीतराग भाव रूप) होता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में अणुव्रतों-महाव्रतों को भी आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए शुभ आस्रव रूप कहा है। आस्रव, बन्ध का साधक तथा चारित्र, मोक्ष का साधक संवर-निर्जरा रूप होता है। तत्संबंध में और भी आगमप्रमाण उपलब्ध हैं, देखिए -

10) राजवार्तिक – अध्याय 9 सूत्र 18 पृष्ठ 617 –

‘स्यादेतत् दशविधो साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय ।’

अर्थ – प्रश्न – दश प्रकार का धर्म कहा गया है। तहाँ संयम नाम के धर्म में चारित्र का अंतर्भाव प्राप्त होता है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि सकल कर्मों के क्षय का कारण होने से चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है और इसलिए (सामायिक छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसांपराय यथाख्यातमिति चारित्रम् । (राजवार्तिक अ.9, सूत्र 6-पृ. 596) सूत्र में उसका अन्त में ग्रहण किया गया है।

प्रश्न – तब फिर संयम क्या है?

उत्तर – समितियों में प्रवर्तमान जीव के प्राणिवध व इंद्रिय विषयों का परिहार संयम कहलाता है।

11) प्रवचनसार गाथा 7 – (चारित्तं खलु धम्मो) तत्त्वप्रदीपिका टीका –

स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमय प्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तु स्वभावत्वाद्धर्मः।

अर्थ – स्वरूप में चरण करना, रमना सो चारित्र है। स्वसमय में अर्थात् स्वभाव में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यह वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है।

12) नयचक्र बृहद् – गाथा 356

‘समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरयत्तं ।

तह चारित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया ॥356 ॥

अर्थ – समता, माध्यस्थ, शुद्धभाव (शुद्धोपयोग) वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना ये सब एकार्थवाची हैं। (इसके संयम, व्रत, समिति, आवश्यक आदि नहीं) क्योंकि इनमें पुण्य का परिहार नहीं।

(13) मोक्षपाहुड गाथा 37 –

‘जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।

तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥37 ॥’

अर्थ – जो जाने वह ज्ञान है, जो देखे वह दर्शन है और जो पुण्य तथा पाप का परिहार है वह चारित्र है, इस प्रकार जानना चाहिए।

(14) धवला पु. 14 (16/12)

‘संजम विरईणं को भेदो?महव्वयाणुव्वया विरई।’

प्रश्न – संयम और विरति में क्या भेद है ?

उत्तर – समितियों के साथ महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं और समितियों के बिना महाव्रत और अणुव्रत विरति कहलाते हैं।

परमार्थतः आठवें – नौवें – दसवें इन तीन गुणस्थानों में चारित्र क्षायोपशमिक ही होता है तथापि प्रतिबन्धक मरण के अभाव में नियम से चारित्रमोह का उपशम करने वाले एवं क्षय करने वाले(उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी आरोहण कर्त्ता) ऋषिराजों को भावी अर्थ में भूतकालीन अर्थ के समान उपचार कर लेने से उपशमक और क्षपक संज्ञा रूप व्यवहार की सिद्धि हो जाती है। इसका खुलासा धवला पु.1, सूत्र – 16, पृष्ठ-182-183) पर अपूर्वकरण गुणस्थान समझाते हुए किया गया है।

(15) धवला पु.1, सूत्र -16, पृष्ठ-183 –

शंका – क्षपणनिमित्तक परिणाम भिन्न हैं और उपशमन निमित्तक परिणाम भिन्न हैं। उनमें एकत्व कैसे हो सकता है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि क्षपक और उपशमक परिणामों में अपूर्वपने की अपेक्षा साम्य होने से एकत्व बन जाता है।

शंका – पाँच प्रकार के भावों में से इस अपूर्वकरण गुणस्थान में कौनसा भाव पाया जाता है ?

समाधान – क्षपक के क्षायिक और उपशमक के औपशमिक भाव पाया जाता है।

शंका – इस गुणस्थान में न तो कर्मों का क्षय ही होता है और न उपशमन ही होता है, ऐसी अवस्था में यहाँ पर क्षायिक या औपशमिक भाव का सद्भाव कैसे हो सकता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस गुणस्थान में क्षायिक और औपशमिक भाव का सद्भाव उपचार से माना गया है।

(सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपकश्रेणी वाला क्षायिक भाव सहित अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्वी ही होता है और उपशम श्रेणी वाला औपशमिक तथा क्षायिक भाव सहित अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व दोनों ही सम्यक्त्वों से उपशम श्रेणी चढ़ सकता है।)

एक और विशेष बात जो यहाँ ध्यान देने योग्य है कि 'संयत' शब्द का प्रयोग छठवें से दसवें गुणस्थान तक के सकल संयमी जीवों के लिए ही किया जाता है, उपशान्त कषाय आदि ऊपर के गुणस्थानों में 'संयत' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है, क्योंकि संयम धारण करने का फल जो पूर्ण अकषायरूप वीतरागता है, वह वहाँ प्रगट हो चुकी है।

(16) धवला पु.1, सूत्र-17, पृष्ठ-186-

शंका - यदि ऐसा है तो उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में भी पदम पद का ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान - नहीं, क्योंकि दसवें गुणस्थान तक सभी जीव कषाय सहित होने के कारण, कषाय की अपेक्षा संयतों की असंयतों के साथ सदृश्यता पायी जाती है, इसलिए यथाख्यात संयम नीचे के दसवें गुणस्थान तक मन्दबुद्धि जनों को संशय उत्पन्न होने की संभावना है। अतः संशय के निवारण के लिए संयत विशेषण देना आवश्यक है, किन्तु ऊपर के उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में मन्दबुद्धि जनों को भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि वहाँ पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्त कषाय ही होते हैं। इसलिए भावों की अपेक्षा भी संयतों की असंयतों से सदृश्यता नहीं पायी जाती है, अतएव यहाँ पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं।

फलितार्थ - वस्तुतः ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में राग (कषाय) का पूर्णतः उपशम एवं क्षय हुआ होने से चारित्रगुण की पूर्ण वीतराग रूप शुद्ध अवस्था प्रगट हुई होने से 'वीतराग छद्मस्थ' विशेषण लगाये जाते हैं। उपरोक्त आगमों प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो रहा है कि चारित्र (रागरहित वीतराग अकषायरूप परिणाम) जीव का स्वभाव है और सराग संयम (सम्यक्त्वाचरणपूर्वक होने वाला संयमाचरण) शुभराग रूप-सकषाय रूप अपहृत संयम रूप परिणाम जीव का स्वभाव तो नहीं है; तथापि उस वीतराग स्वभाव रूप चारित्र की प्राप्ति का बाह्य साधन अवश्य है।- इसलिए जिनदीक्षा ग्रहणकर्ता भव्य निश्चय पंचाचार रूप उस वीतराग चारित्र का साधक-निमित्त होने से व्यवहार पंचाचार रूप ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार को जो कि निश्चय नय से शुद्धात्मा का नहीं है, तब तक अंगीकार करता है, जब तक कि शुद्धात्मा को उपलब्ध कर ले। इस सराग संयम को (जो यदि वह सम्यक्त्वाचरणचारित्र सहित हो तो)

व्यवहार चारित्र, भेद रत्नत्रय, अपहृत संयम, सराग चारित्र, शुभोपयोग, पूर्ण इन्द्रिय संयम व पूर्ण प्राणि संयम आदि अनेक नामों से कहा जाता है।

सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो बाह्य नमनतादि रूप बहिरंग परिग्रह रहित मुनिदशा को द्रव्यलिंग तथा मिथ्यात्व कषायादि रहित, अंतरंग परिग्रह रहित मुनिदशा को भावलिंग कहा है। परमार्थतः जो मुनिचर्या के योग्य संज्वलन कषाय के उदय से होने वाला अट्टाईस मूलगुणों के निरतिचार पालने रूप शुभ राग रूप शुभोपयोग है, वह निश्चय से द्रव्यलिंग है और अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय से आत्मा में प्रगट शुद्ध परिणतिरूप वीतरागता है, वह निश्चय से भावलिंग है। अर्थात् व्यवहार भेद रत्नत्रयरूप आत्मा का सराग परिणाम ही द्रव्यलिंग है और निश्चय अभेद रत्नत्रय रूप आत्मा का वीतराग परिणाम ही भावलिंग है। इसे परमोपेक्षा संयम भी कहते हैं। बस, चारित्रगुण की इस एक मिश्र रूप अवस्था, जिसमें संज्वलन कषाय प्रमाण सरागता तथा तीन कषायों के अनुदय/अभाव रूप वीतरागता होती है, उसको ही क्षायोपशमिक चारित्र संज्ञा है। वस्तुतः जिस-जिस गुणस्थान में जितने-जितने अंशों में चारित्र मोहोदयजन्य कषायें मिटती जाती हैं, उतने-उतने अंशों में उन-उन जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट अंतरात्माओं में निराकुलत्वलक्षणा आत्मोत्पन्न आत्मिक सुख-शांति रूप वीतरागता की उत्पत्ति व वृद्धि होती जाती है और इस वीतरागता रूप अंकुर की उत्पत्ति, जघन्य अंतरात्मा अविरत सम्यग्दृष्टियाने चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर वृद्धिगत होते-होते बारहवें क्षीणमोह जिन गुणस्थान में पूर्ण शुद्धोपयोग रूप यथाख्यात चारित्र रूप पूर्णता में परिणत हो जाती है। जो इस परमार्थ स्वरूप वस्तुस्थिति को नहीं स्वीकारता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है। इसकी साक्षी समस्त जिनागम में है-एक प्रमाण-प्रवचनसारजी की गाथा 238(जं अण्णाणि कम्मं खवेदि....) की तात्पर्यवृत्ति टीका का भावार्थ यहाँ दिया जा रहा है।

..... 'तत्र मोक्षकारणं चिन्त्यते। मिथ्यात्वरगादिरूपा बहिरात्मावस्था ता वदशुद्धा, मुक्तिकारणं न भवति। मोक्षावस्था शुद्धफलभूता सा चाग्रे तिष्ठति। एताभ्यां द्वाम्यांभिन्नायान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरगादिरहितत्वेन शुद्धा। यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति, तथाऽत्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेश क्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम्। यावतांशेन निरावरणा रागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति। तत्र

शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति । तच्च तस्मादन्तरात्म-
ध्यानावस्थाविशेषात्कथंचिद् भिन्नम् । यदैकान्तेनाभिन्नं भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यानं
प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि
विनाशः प्राप्नोति । एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्याः ।’

अर्थ - उसमें मोक्ष के कारण का विचार करते हैं । - (प्रथम) मिथ्यात्व
रागादिरूप बहिरात्म-दशा अशुद्ध दशा है, वह मोक्ष की कारण नहीं है तथा
(अन्तिम) मोक्षदशा शुद्धफलभूत है, वह आगे प्रगट होती है । इन दोनों से भिन्न
जो अन्तरात्मदशा है वह मिथ्यात्वरगादि से रहित होने के कारण शुद्ध है ।
जैसे-सूक्ष्म निगोदिया जीव के ज्ञान में शेष आवरण होने पर भी क्षयोपशम-
ज्ञानावरण(पर्यायज्ञान नामक क्षयोपशम को आवरण करने वाला ज्ञानावरण)
नहीं है, वैसे यहाँ भी केवलज्ञानावरण होने पर भी एकदेश क्षयोपशमज्ञान की
अपेक्षा आवरण नहीं है । जितने अंशों में आवरण रहित और रागादि से रहित
होने के कारण शुद्ध है, उतने अंशों में मोक्ष का कारण है । वहाँ शुद्ध पारिणामिक
भाव रूप परमात्मद्रव्य ध्येय है और वह उस अन्तरात्मारूप ध्यानदशा विशेष से
कथंचित् भिन्न है । यदि वह एकान्त से उससे अभिन्न हो, तो मोक्ष में भी ध्यान
प्राप्त होता है, अथवा इस ध्यान पर्याय का विनाश होने पर उस पारिणामिक
भाव का भी विनाश प्राप्त होता है ।’

अभी -अभी सम्यग्दर्शन के विषय में एक नया चिन्तन जो कि आगमार्थ के
विपर्यास से लगा हुआ लगता है, सुनने-पढ़ने को मिला है । पंचास्तिकाय गाथा
131 समयव्याख्या टीका में पुण्य-पाप पदार्थों का वर्णन है-जिसमें मोह (मिथ्यात्व
को) अशुभ परिणाम कहा गया है और प्रशस्त राग को शुभ तथा मोह, द्वेष एवं
अप्रशस्त राग को अशुभ परिणाम कहा गया है । इस पर से कुछ मनीषी तर्क देकर
यह सिद्ध कर रहे हैं कि ‘इस(उपरोक्त)विवेचन में मिथ्यात्व को अशुभ परिणाम
कहा गया है, जिससे यह स्वतः सिद्ध है कि सम्यक्त्व शुभ परिणाम अर्थात्
शुभोपयोग के रूप में विवक्षित है ।’ और इसे सही ठहराने के लिए समयसार
गाथा 12 तात्पर्यवृत्ति टीका से कहा जा रहा है कि चौथे से सातवें गुणस्थानों में
होने वाले सम्यग्दर्शन मात्र को (जो कि सराग होता है?)शुभोपयोग कहा है!!
‘इन गुणस्थानों में होने वाला सम्यग्दर्शन चाहे औपशमिक हो, क्षायोपशमिक
हो, या क्षायिक हो, शुभोपयोग ही है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन भी यहाँ
सराग ही होता है ।’ गजब हो गया भैया ! क्या कहूँ, क्या लिखूँ ?

‘सम्यक्त्वमार्गणा’ के कथन में आ.वीरसेन स्वामी ने धवला पु.1,
पृष्ठ-397/398 पर गाथा 212-216 में तथा सूत्र 145 में ऐसा लिखा
है, ‘जिनेंद्र देव के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का
आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं ॥212 ॥ दर्शन
मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह क्षायिक
सम्यक्त्व है, जो नित्य है और कर्मों के क्षय का कारण है ॥213 ॥ श्रद्धान को
भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इंद्रियों को भय उत्पन्न करने वाले
आकारों से या बीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से,
किंबहुना तीन लोक से भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है ॥214 ॥
सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़ रूप
श्रद्धान होता है, उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं-ऐसा हे शिष्य तू समझ ॥215 ॥
दर्शन मोहनीय के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान
पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशम सम्यग्दर्शन है ॥216 ॥

(17) धवला पु. 1 (145/398) - सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष
की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर
अयोगी केवली गुणस्थान तक होते हैं ॥145 ॥

शंका - सम्यक्त्व में रहने वाला वह सामान्य क्या वस्तु है?

समाधान - तीनों ही सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है, वह सामान्य शब्द
से यहाँ पर विवक्षित है ।

शंका - क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के परस्पर
भिन्न-भिन्न होने पर सदृश्यता क्या वस्तु हो सकती है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि उन तीनों सम्यग्दर्शनों में यथार्थ श्रद्धान के प्रति
समानता पायी जाती है ।

शंका - क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषण से युक्त यथार्थ श्रद्धानों में
समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान - विशेषणों में भेद भले ही रहा आवे, परंतु इससे यथार्थ श्रद्धान
रूप विशेष्य में भेद नहीं पड़ता है ।

(18) धवला पु.1 (220 - पृ. 401)-

तिणिण जणा ण एक्केक्कं दोद्दो णेच्छंति ते तिवग्गा य ।

एक्को तिणिण ण इच्छइ, सत्त वि पावंति मिच्छत्तं ॥220 ॥

अर्थ – ऐसे तीन जन जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में से किसी एक-एक को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करते, दूसरे ऐसे तीन जन जो इन तीनों में से दो-दो को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करते, तथा कोई एक ऐसा भी जीव हो, जो तीनों को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करता, ये सातों जीव मिथ्यात्वी हैं।

फलितार्थ – जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ तीनों ही एक साथ होते हैं, अर्थात् सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र अंशतः होता ही है। सम्यग्दर्शन को कुतर्कों से भी शुभ भाव, शुभोपयोग सिद्ध नहीं किया जा सकता है। जो क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि अनन्त काल टिकने वाला है और ज्ञान व चारित्र को सम्यक्ता प्रदान कर उनको भी टिकाये रखने वाला है एवं उन सब नौ क्षायिक लब्धियों में प्रथम क्षायिक लब्धि है; उसे चतुर्थ से सप्तम इन चार गुणस्थानों में चारित्र गुण की सरागता (सदोषता)रूप अवस्था का आरोप कर सराग सम्यग्दर्शन कहना अलग बात है (उपचार मात्र कथन है) और उसे सराग (सदोष) रूप ही मान लेना उसके स्वरूप को विकृत कर देने की कुचेष्टा मात्र है, मिथ्या अभिनिवेश है। आगम का अवर्णवाद है। यह सभी आगमविद् जानते हैं कि सम्यक्त्व रहित चारित्र ही नहीं है। **सर्वार्थसिद्धि (6/21)** में 'सम्यक्त्वं च' इस सूत्र की टीका में स्पष्ट रूप से कहा है कि- 'सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्-दुभयमप्यत्रान्तर्भवति।' अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में सराग संयम और संयमासंयम नहीं होते, इसलिए उन दोनों का यहीं अन्तर्भाव होता है।-अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायु के आस्रव के कारण हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्व के होने पर ही होते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन को देवायु के आस्रव का कारण कहना, जैसे उपचार (व्यवहार) है, वैसे ही सरागता का उस पर आरोप कर उसे सराग सम्यग्दर्शन कहना उपचार(व्यवहार) मात्र कथन है और वीतरागता का आरोप कर उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहना भी उपचार (व्यवहार) कथन मात्र है।

सम्यग्दर्शन शुभ भाव रूप पुण्यतत्त्व नहीं है जो कि आस्रव-बंध का साधक हो, वह तो शुद्ध भाव रूप संवर निर्जरा तत्त्व है, जो मोक्ष का साधक है। यह तो तत्त्वार्थ श्रद्धान में ही भूल है कि जो संवर-निर्जरा को पुण्य(शुभ) भाव रूप मानता-मनवाता है। जिसका तत्त्वार्थ श्रद्धान ही सही नहीं है, तो उसको परमोपेक्षा संयम तो दूर, सराग संयम भी सच्चा नहीं हो सकता है। इसीलिए कुंदकुंदाचार्य देव ने चारित्र पाहुड़ गाथा 10 में कहा है-

सम्मतचरणभट्टा संजम चरणं चरंति जे वि णरा ।

अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥10 ॥

अर्थ – जो पुरुष सम्यक्त्वचरण चारित्र से भ्रष्ट है और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढ़ दृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं। अर्थात् सम्यक्त्वाचरण चारित्र के बिना संयमाचरण चारित्र निर्वाण प्राप्ति का कारण नहीं है।

इस उपरोक्त सर्व कथन का तात्पर्य रूप भावार्थ यह है कि-सम्यक्त्व भाव मिथ्यात्व कर्म के अभाव से जीवों का निजभाव प्रगट होता है, सो वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है, तथापि उसके जो बाह्य चिह्न सम्यग्दृष्टि को प्रगट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है। मुख्य चिह्न तो उपाधि रहित शुद्ध ज्ञान चेतना स्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का (स्वानुभूत्यावरण ज्ञानावरण का) क्षयोपशम विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर ही होती है, इसीलिए इसे बाह्य चिह्न कहा है। 'जो यह शुद्धज्ञान स्वरूप आत्मा है सो मैं ही हूँ और जो राग-द्वेषादि विकार भाव हैं, औदयिक भाव हैं, वे मोहनीय आदि कर्मोदयजन्य हैं, कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है।' इस प्रकार स्व-पर मूलक भेदविज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं, वही आत्मा की अनुभूति है तथा वही शुद्ध नय का विषय है। इस स्वानुभूति के साथ नियम से ऐसा श्रद्धान उदित होता है कि द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म (रागादि भाव) से रहित अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख रूप अनन्त चतुष्टय ही मेरा मूल स्वरूप है, अन्य सब भाव संयोग जनित हैं, ऐसी आत्मा की अनुभूति जो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है, स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण रूप भावश्रुत-ज्ञान से जानी जाती है। यहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग में होने की परीक्षा पर के वचन व काय की क्रिया की परीक्षा से होती है। यह व्यवहार है, परमार्थ तो सर्वज्ञ जानते हैं। अपने ज्ञान के द्वारा स्वयं के एवं अन्य के श्रद्धान का निर्णय करना व्यवहार है। इस आत्मानुभूति में स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्व (दर्शनमोह) एवं अनन्तानुबंधी कषाय (चारित्रमोह) का अनुदय (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) नियम से होता ही है।' इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान रूप निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसकी उपलब्धि में सर्वज्ञ कथित स्यात् पद मुद्रांकित शब्द ब्रह्म रूप परमागम का सेवन, सुयुक्तियों का अवलंबन एवं स्वानुभवी

ज्ञानियों का उपदेश ही निमित्त होता है, अन्य कुछ नहीं। पश्चात् स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना होता है।

सम्यग्दृष्टि जीवों में निश्चय सम्यक्त्व होने के प्रमाण स्वरूप अन्य बाह्य व्यवहार चिह्न भी प्रगट होते हैं। जैसे-

1. प्रशम अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव होना।

2. संवेग अर्थात् धर्म और धर्म के फल में परम उत्साह, परमेष्ठियों में प्रीति, साधर्मी अनुराग।

3. अनुकम्पा अर्थात् सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्री भाव, दयार्द्र चित्त होना।

4. आस्तिक्य अर्थात् सर्वज्ञ कथित जीवादि पदार्थों में अस्तित्व भाव, नान्यथावादिनो जिनः।

आत्मनिंदा, गर्हा, निर्वेद, संवेग, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा, ये आठ गुण भी प्रगट होते हैं तथा निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग, लक्षण, गुण भी प्रगट हो जाते हैं। इन सबके अलावा सम्यक्त्वाचरण के प्रतिफल स्वरूप सम्यग्दृष्टि को (8 मद + 8 शंकादि दोष + 6 अनायतन + 3 मूढ़ताएँ = 25) ये पच्चीस मल दोष नहीं होते हैं।

दर्शन पाहुड़ गाथा 2 - (दंसण मूलो धम्मो) की टीका में पं. जयचंदजी छाबड़ा ने हम सभी सच्चे जिनधर्मानुयायियों को एक नेक सलाह दी है, उस पर भी हमें ध्यान देना चाहिए। 'अनेक लोग कहते हैं कि - सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता। इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते? परंतु इस प्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है, सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा? इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि 'मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ।' मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिए सर्वथा एकान्त पक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए।

शुभम् भूयात्। भद्रं भूयात्। जयवन्त वरुणो स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म॥
शिवाकांक्षी, ब्र. हेमचंद जैन, 'हेम' (भोपाल)

दि. जैन अतिशय क्षेत्र रामटेक (नागपुर) में 20 सितंबर 1994 - क्षमावणी दिवस पर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के साथ ब्र. हेमचंद जैन 'हेम' (भोपाल) की पं. श्री राकेश कुमार शास्त्री (जैन दर्शनाचार्य - नागपुर) की उपस्थिति में हुई तत्त्वचर्चा:-

आदरणीया धर्म बहिन, लीलावती जी, आपने पूछा था कि-क्या कभी क्षायोपशमिक भाव/मिश्र भाव के बारे में मेरी आचार्य श्री से प्रत्यक्ष चर्चा हुई है? यदि नहीं हुई तो प्रत्यक्ष में जाकर एक बार कर लेनी चाहिए। तब मैंने आपको कहा था कि, 'हाँ! चर्चा हुई थी। उसका संक्षेप आपके द्वारा माँगने पर यहाँ दे रहा हूँ।

ब्र. हेमचंद - आचार्यश्री! पिछले वर्ष मैंने अंग्रेजी मोक्षमार्ग प्रकाशक आपके अवलोकनार्थ/समालोचनार्थ भिजवाया था, तत्संबंध में अनुवाद संबंधी कोई त्रुटि हो तो जरूर बताइए।

पू. आचार्य श्री - आपने अनुवाद बहुत अच्छा किया है। ऐसी कोई त्रुटि उसमें नहीं दिखी। हाँ, तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ कि पं. टोडरमलजी ने पृ. 27 पर जो मिश्रयोग होने की बात लिखी है, उससे तुम क्या समझें? क्योंकि एक काल में तो एक ही शुभ या अशुभ योग होता है।

ब्र. हेमचंद - आचार्य श्री! वस्तुतः एक समय में एक ही शुभ या अशुभ योग होता है, तथापि मैं अल्पमति ऐसा समझता हूँ कि मन-वचन-काय की चेष्टा से आत्मप्रदेशों का परिस्पंद रूप जो योग है, उसमें यदि मात्र मन शुभ क्रिया आचरण छोड़कर अशुभ विचार (विकल्प) में चला गया तो मिश्र योग बन सकता है, क्योंकि वचन और काया से तो पूजा-भक्ति रूप शुभ क्रिया रूप योग चल रहा होता है, अथवा अशुभ क्रिया में प्रवर्तते समय मन वैराग्य रूप कुछ शुभ भाव रूप चिंतवन में चला जाय तो भी मिश्र योग कहा जा सकता है। क्योंकि उसमें घातिया-अघातिया रूप पुण्य-पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का आस्रव बंध एक समय में हो रहा होता है। उदाहरण क्षायिक सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक के जीव को अभी नरक में अन्य नारकियों से लड़ते वक्त भी तीर्थंकर महापुण्य प्रकृति के बंध के साथ अन्य ज्ञानावरणादि घातिया पाप प्रकृतियों का भी बंध हो रहा है। तो इसे मिश्रयोग से हुआ कार्य कहा जा सकता है। पुण्य-पाप का भेद अघातियों में ही है, घातिया तो एकान्ततः पाप प्रकृतियाँ ही हैं।

आचार्य श्री - अच्छा, तो तुम शुभ या अशुभ योग के काल में पुण्य व पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों के युगपत् होने वाले आस्रव बंध को मिश्र योग से हुआ कार्य मानते हो?

ब्र. हेमचंद - हाँ! मैंने तो ऐसा ही समझा है महाराज जी! करणानुयोग का विशेष अभ्यास मुझे है नहीं।

आचार्य श्री – अच्छा ! अब दूसरी बात पूछता हूँ। तुम मुनिराज के कौनसा चारित्र प्रगट हुआ मानते हो ?

ब्र. हेमचंद – मुनिराज के ?

आचार्यश्री – हाँ, ज्ञानी मुनिराज की बात पूछ रहा हूँ। कौनसा चारित्र होता है ?

ब्र. हेमचंद – जी, ज्ञानी भावलिंगी मुनियों के क्षायोपशमिक चारित्र प्रगट हुआ होता है।

आचार्य श्री – उस क्षायोपशमिक चारित्र से संवर-निर्जरा होती है या नहीं ?

ब्र. हेमचंद – अवश्य होती है, गुणश्रेणी निर्जरा होती है, निरंतर होती है।

आचार्य श्री – और क्षायोपशमिक चारित्र महाव्रतों के बिना होता नहीं, अतः महाव्रतों से संवर-निर्जरा होती है, यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है – मानते हो ?

ब्र. हेमचंद – नहीं मानता महाराज जी ! क्योंकि महाव्रत पालने का भाव संज्वलन के उदय से होने वाला शुभ भाव है। उससे पुण्यबंध होता है। महाव्रत रूप सराग चारित्र से निर्जरा कहना उपचार कथन मात्र है।

आचार्य श्री – क्यों? – कैसे नहीं मानते ? यहीं तुम्हारी भूल है ? क्या क्षायोपशमिक चारित्र महाव्रतों के बिना हो सकता है ?

ब्र. हेमचंद – मेरी भूल हो तो क्षमा करें महाराज जी, मुझे वैसे आगम से इस में कोई भूल दिखायी नहीं देती, क्योंकि सरागांश ही बंध का कारण होता है, वीतरागांश नहीं। यद्यपि महाव्रती को ही (सकल संयमी को ही) क्षायोपशमिक चारित्र प्रगट होता है, यह सत्य है तथापि महाव्रत रूप शुभभावों से पुण्यबंध होता है, अन्यथा महाव्रतों का निरतिचार रूप पालन करने वाले नवग्रैवेयक पर्यंत जाने वाले मिथ्यादृष्टि म्यारह अंग, नौ पूर्व के पाठी द्रव्यलिंगी मुनिराजों के भी निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप संवर निर्जरा तत्त्व प्रगट हुए मानना पड़ेंगे।

आचार्य श्री – मैंने ज्ञानी भावलिंगी मुनियों की बात पूछी है ?

ब्र. हेमचंद – हाँ महाराज जी ! तीन कषाय चौकड़ी के अभाव/अनुदय से प्रगट शुद्धता, वीतरागता रूप शुद्ध परिणति से तो संवर निर्जरा होती है एवं संज्वलन कषाय के उदय से प्रगट शुभ भाव (सराग संयमाचरण) रूप महाव्रतों से पुण्यबंध निरंतर एक साथ होता रहता है। इसी से क्षायोपशमिक चारित्र को मिश्रभाव संज्ञा है, क्योंकि पूर्ण वीतरागता अभी प्रगट नहीं है। जो सरागांश है, उससे बंध; जो वीतरागांश है, उससे संवर-निर्जरा; ऐसा मैं मानता हूँ।

आचार्य श्री – मतलब तुम चारित्रगुण की एक साथ दो पर्यायें मानते हो, क्षायोपशमिक और औदयिक? क्या यह सम्भव है ? एक ही पर्याय से दोनों कार्य मानना चाहिए ?

ब्र. हेमचंद – नहीं महाराज जी ! मैं एक गुण की एक समय में दो पर्यायें नहीं मानता हूँ, होती भी नहीं है; परंतु क्षायोपशमिक पर्याय में संज्वलन का उदयांश भी तो शामिल है। इसीसे तो उसको मिश्र भाव कहा है।

आचार्य श्री – तो फिर तुम महाव्रतों को क्षायोपशमिक पर्याय से भिन्न औदयिक क्यों सिद्ध कर रहे हो ? फिर हम पूछते हैं-उसे मिश्र भाव कहाँ कहा है ? तुम्हें एक महाव्रत रूप कारण से दो कार्य हो सकने में क्या विरोध दिखायी पड़ता है ? शुभ भावों से निर्जरा नहीं मानी जायेगी तो आगम से विरोध होता है, समझें ?

ब्र. हेमचंद – क्षमस्व महाराज जी ! तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में मिश्र भाव क्षायोपशमिक भाव के लिए ही आया है। जैसे-शीतकाल में हम लोग गर्म पानी से नहाते हैं, तो वह पानी वस्तुतः शीतोष्ण (मिश्र) रूप ही होता है, न अधिक गर्म कि जिससे जल जायें, न अधिक शीतल-कि जिससे सर्दी लग जायें।

आचार्य श्री – यह उष्ण पानी वाला दृष्टांत तुम्हारे पं. राजमल जी ने भी दिया था। देखो, समझो, क्षायोपशमिक भाव को बलात् औदयिक भाव सिद्ध मत करो।

ब्र. हेमचंद – ठीक है महाराज जी ! मैं इस विषय पर पुनिर्विचार करूँगा, वैसे मैं मिश्र भाव को औदयिक नहीं मानता हूँ आचार्य श्री ! कुछ वाचालता वश अविनय हुई हो तो क्षमा चाहता हूँ। महाराज जी ! अंत में मैं अपनी एक आंतरिक पीड़ा जो जिनवाणी के अविनय से/अनादर से संबंधित हैं-आपके सामने रखना चाहता हूँ। आपने 1977-78 में नैनवाँ (राजस्थान) में और गोहाटी (आसाम) में सोनगढ़ जयपुर से प्रकाशित समयसारादि ग्रंथों को जल/बावड़ी में डलवाये जाने से व्यथित होकर आपने मेरे एवं स्व. पं. श्री जगन्मोहन लाल जी शास्त्री (कटनी) के अनुरोध/निवेदन करने पर एक वक्तव्य दिया था, जो सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपा था कि, 'जिनवाणी कहीं से भी प्रकाशित क्यों न हो, उसका बहिष्कार तिरस्कार, अविनय/अनादर रंचमात्र नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसमें णमोकार मंत्र एवं पूर्वाचार्यों की मूल गाथाएँ/सूत्र छपे होते हैं; अन्यथा महापापबंध होने से कुगति गमन होगा।'

ब्र. हेमचंद एवं पं. राकेश शास्त्री – अगर आप की अनुमति हो तो हम आपके इस वक्तव्य को आपके नाम से पुनः छपवा दें ?

आचार्य श्री – नहीं, मैं इस विषय पर अभी कुछ नहीं कहना चाहता। आप लोग पुण्य को हेय बतलाकर लोगों को पाप में धकेल रहे हो।

ब्र. हेमचंद – नहीं, ऐसा नहीं है महाराज जी ! यह कथन तत्त्वदृष्टि की अपेक्षा से किया गया हो तो.....। खैर, कुछ गलती हुई हो तो क्षमा कीजिए आचार्य श्री !

(- और भी शुद्धोपयोग आदि विविध विषयों पर चर्चा हुई थी परंतु क्षायोपशमिक भाव बाबद इतनी ही चर्चा हुई अतः अन्य चर्चा यहाँ विस्तार भय से टाल रहा हूँ।

सच्चे परीक्षा प्रधानी बनो

ब्र. हेमचंद्र जैन, 'हेम' (भोपाल)

दि. 27.8.2007

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥

अर्थ – जिस व्यक्ति को (खरे-खोटे का) निर्णय करने की बुद्धि नहीं है, उसके लिए शास्त्र क्या करें? जैसे दोनों नेत्रों से विहीन व्यक्ति के लिए दर्पण क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता।

वस्तुतः पूर्वाग्रह और पक्षपात को छोड़े बिना सत्यासत्य का निश्चय/निर्णय नहीं हो सकता। पूर्वाग्रह और पक्षपात को छोड़कर ही सत्य का शोध हो सकता है। जैसे, अज्ञानी पापी जीव, पाप परिणति/पापाचरण छोड़ते नहीं और पापी भी कहलाना चाहते नहीं। निज आत्मा का लक्ष्य करते नहीं और सद्विचारों को गले लगाते नहीं एवं सदाचरण आचरते नहीं, फिर भी वे पुण्यात्मा-धर्मात्मा कहलाना चाहते हैं तो यह कैसे सम्भव हो? निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासी तीनों प्रकार के दिगम्बर जैन अपने को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, धर्मात्मा मानते हैं, दूसरों से भी मनवाना चाहते हैं, परन्तु निश्चय का आभास, व्यवहार का आभास और उभय का आभास छोड़े बिना वे सच्चे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? वे तो सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि भी नहीं हो सकते। यथार्थ (भूतार्थ) का नाम निश्चय; उपचार(अभूतार्थ) का नाम व्यवहार – ऐसा समझे बिना समझ सही हो नहीं सकती। वस्तुतः अपनी अज्ञानता का आभास ही बुद्धिमत्ता के मन्दिर का प्रथम सोपान है।

जैनदर्शन/जैनधर्म पूर्णतः विज्ञानाधारित दर्शन/धर्म है। आधुनिक विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास विज्ञान को जैनदर्शन के समीप लाता जा रहा है। जैन दर्शन व्यक्तिनिष्ठ न कभी था, न है, और न रहेगा। वह तो सदैव से वस्तुनिष्ठ था, है, और रहेगा। महाकवि कालिदास ने अपनी कृति 'मालाविकाग्निमित्र' में परीक्षाप्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी (संत) और परीक्षारहित अंधविश्वासी को अज्ञानी मूढ़ कहा है।

पुराणमित्येव न साधु सर्व, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥ 1/2॥

अर्थ – सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार व्यक्ति दोनों (नये और पुराने) की परीक्षा करके उनमें से जो समीचीन हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ नासमझ व्यक्ति ही दूसरे के कथनमात्र से विश्वास करता है।

परमपूज्य अमितगति आचार्य ने श्रावकाचार में परीक्षा का महत्त्व दर्शाते हुए कहा है –

लक्ष्मीविधातुं सकलां समर्थ, सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् ।

परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः, सुवर्णवद् वंचन भीतचित्ताः ॥११/२९॥

अर्थ – विचारवान पुरुष तो सर्व समर्थ लक्ष्मी प्रदान करानेवाले धर्म को ठगाये जाने के भय से स्वर्ण की भाँति भली-भाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

आचार्य हेमचंद्र सूरि ने भी 'स्याद्वाद मंजिरी' में कहा है – कि हमारा नमस्कार किसको?

भववीजांकुरजननाः रागाद्यः क्षयमुपगताः यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णु वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

अर्थ – जिसने संसार के कारणभूत रागादि को क्षय कर दिया है, उसे ही मेरा नमस्कार हो। चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो या जिन (जिनेन्द्र देव) हो।

समस्त जैनों की बाईबिल के नाम से प्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्र अपरनाम मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में आचार्यवर श्रीमद् उमास्वामी ने व्यक्तिविशेष की वंदना न करते हुए उस व्यक्ति के वीतरागी, सर्वज्ञ हितोपदेशी स्वरूप व्यक्तित्व को नमस्कार किया है, जिसमें ये गुण हों वे भगवान हमारे लिए पूज्य हैं। किसलिए? कि उन जैसे गुण मुझमें भी प्रगट हों। वह इस प्रकार है –

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थ – जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता (भेदने वाले) हैं और सर्व तत्त्वों के ज्ञाता हैं, उनको मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम-वंदना करता हूँ।

देव-शास्त्र-गुरु-धर्म की परीक्षा करने वाले परीक्षक को सर्वप्रकार से सर्व ओर से परीक्षा करने की जिनदेव की आज्ञा है अतः चौकन्ना रहने की जरूरत है। क्यों कि, 'केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।' अर्थात् 1. केवली, 2. श्रुत (शास्त्र), 3. संघ (निर्ग्रथ दि.साधु, ऋषि, मुनि, यति, अनगार अथवा दि. मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका) 4. धर्म (अहिंसा परमो धर्मः), 5. देव

(देवगति के चतुर्निकायी देव) – इन पाँचों के स्वरूप को अन्यथा प्ररूपित करना, मानना-मनवाना, आदि दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है और यह एक दर्शनमोहनीय कर्म ही इस जीव को अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है।

परीक्षक पुरुष के गुणधर्मों के बारे में आ. हरिभद्रसूरि ने 'लोकतत्त्व निर्णय' आदि ग्रंथों में परीक्षा के उपाय को दर्शाया है –

(1) पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

अर्थ – मुझे भगवान महावीर जिनेन्द्र से कोई पक्षपात नहीं है और अन्य कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु जिसके वचन सुयुक्तियों से युक्त हों (युक्तिसंगत हों) उसीका ग्रहण करना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि अपनी बुद्धि को कहीं गिरवी न रखें, परीक्षा प्रधानी बनें।

(2) बन्धुर्न नः स भगवान रिपवोऽपि नान्ये, साक्षात्तदृष्टचरएकतमोऽपिचैषाम्।

श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं, वीरगुणातिशयलोलतयाश्रिताः स्मः ॥

अर्थ – ये भगवान महावीर मेरे कोई बन्धु नहीं हैं और अन्य देव मेरे शत्रु नहीं हैं। मैंने तो उनमें से किसीको साक्षात् देखा भी नहीं है, परन्तु उनके वचनों को सुनकर और उनमें अलग ही विशेषता देखकर गुणातिशयता की लाभ भावना से वीर भगवान का ही आश्रय लिया है।

जैनदर्शन के सारभूत अनादि निधन महामंत्र 'णमोकार मंत्र' में भी पंचमरमेष्ठी की जो वंदना की गयी है, वस्तुतः वह किसी सम्प्रदाय विशेष की संकीर्ण सीमा में परिबद्ध नहीं है, अपितु उसमें तो गुणों एवं व्यक्तित्व के विकास की वन्दना है। इसमें किसी भी जगह जाति या सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही कहीं जैनधर्म का नामोल्लेख है, फिर जैनधर्म को साम्प्रदायिक धर्म कैसे कहा जा सकता है? व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास उसके गुणों तथा त्याग के आधार पर होता है। समाज व्यक्ति को नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व को पूजता है। उसके गुणों की आरती उतारी जाती है। इसी गुणज्ञतावश धवला-1-पृष्ठ 53-54 पर प.पू. वीरसेन स्वामी ने रत्नत्रयधारी आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों परमेष्ठियों को अरिहंत-सिद्ध भगवतों की तरह सम्यग्दर्शनादि रत्नों की विद्यमानता से उनमें देवत्व सिद्धकर प्रणाम-वंदना करने योग्य कहा है। वास्तव में तत्त्वपरीक्षक निष्पक्ष, एवं निराग्रही होता है और जिनधर्म शतप्रतिशत वस्तुस्वरूप आधारित धर्म है।

इसीलिए इसमें व्यक्तित्व-गुणधर्म की आराधना निष्पक्ष भाव से सिद्ध की गयी है।
भ्रमोत्पादक दर्शनमोह के क्षय का उपाय –

ग्रंथाधिराज प्रवचनसार में आचार्य भगवन्त कुंदकुंदाचार्य देव ने प्रथम उपाय गाथा 80 एवं दूसरा उपायान्तर गाथा 86 में बतलाया है। प्रथम उपाय में वे कहते हैं कि-जो अरिहन्त को द्रव्यपने, गुणपने, पर्यायपने से जानता है, निश्चय से (द्रव्यदृष्टि से) वैसा ही मेरा आत्मा है – ऐसा जानने वाले का दर्शन मोह नियम से नष्ट हो जाता है। दूसरा उपायान्तर गाथा 86 में यह कहा है कि – जो जिनशास्त्र (सर्वज्ञ प्रणीत आगम) द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को यथातथ्य रूप में जानता है। उसका नियम से मोहोपचय क्षय को प्राप्त हो जाता है। इसलिए शास्त्र का (जिनवाणी/जिनागम का) सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए। अर्थात् तत्त्वों को सही – सही भाव भासन पूर्वक जानना चाहिए। इस गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्यप्रवर जयसेन लिखते हैं –

'तद्यथा-वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् 'एगो मे सस्सदो अप्पा' इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मानं जानीते कश्चिद्भव्या, तदनन्तरं विशिष्टाऽभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहित मानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिनत्ति, तथैवाऽनुमानेन वा। तथाहि – अत्रैव-देहे, निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्माऽस्ति। कस्माद्धेतोः। निर्विकारस्वसंवेदन प्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति, तथैवान्येऽपि पदार्थाः यथासंभवमागमाभ्यासंबलेनोत्पन्न प्रत्यक्षणानुमानेन वा ज्ञायन्ते। ततो मोक्षार्थिना भव्येनाऽऽगमाभ्यासःकर्तव्य इति तात्पर्यम्।'

अर्थ – वह इस प्रकार कोई भव्य, वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये शास्त्र से 'एक मेरा शाश्वत आत्मा।' इत्यादि परमात्मा का उपदेश देने वाले श्रुतज्ञान द्वारा सर्व प्रथम आत्मा को जानता है और उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परमसमाधिलीनता के समय रागादि विकल्पों से रहित मानस-प्रत्यक्ष (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष) से उसी आत्मा को जानता है अथवा उसी प्रकार अनुमान से जानता है। वह इसप्रकार-निश्चय नय से शरीर में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा (त्रिकाली निज भगवान आत्मा) है। शरीर में ही निज परमात्मा है। यह कैसे जाना? सुखादि के समान विकार रहित स्वसंवेदन-प्रत्यक्षरूप से यह जाना जाता है, उसी प्रकार अन्य भी पदार्थ यथासंभव आगम-अभ्यास के बल से उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाने जाते हैं। इसलिए भव्य मोक्षार्थी को आगम का अभ्यास करना चाहिए यह तात्पर्य है ॥86 ॥

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक में पृष्ठ 216 पर इस प्रश्न का समाधान कि - 'छद्मस्थ से अन्यथा (प्रकार से) परीक्षा हो जाये तो वह क्या करें?' इस प्रकार किया है - 'सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा होती है, जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करें, वहाँ अन्यथा परीक्षा होती है।' तथा वह कहता है कि शास्त्रों में परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत है। किन्-किन की परीक्षा की जाये ?

समाधान - मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म, जीवादितत्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रों में यह सच्चे कहे हो, उनकी सर्व आज्ञा मानना। जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हो, उनकी आज्ञा नहीं मानना।'

अष्टसहस्री - (आप्त-मीमांसा की टीका) में आज्ञाप्रधानी से परीक्षाप्रधानी को उत्तम (श्रेष्ठ) कहा है। हाँ, जो पदार्थ प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं है और सूक्ष्मपने से जिनका निर्णय नहीं हो सकता उनका तो आज्ञाप्रधानी हो श्रद्धान करना, क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग हैं, वे अन्यथावादी नहीं होते। जैनदर्शन किसी भी जीव को पापों में जाने नहीं देता और पुण्य को धर्म मानने नहीं देता, कहने देता है, करने देता है-पापों से बचने के लिए। व्यवहार दृष्टि से पाप-पुण्य में भेद है, निश्चय से दोनों की एक जाति है। यद्यपि पुण्य उर्ध्वमुखी है, पाप अधोमुखी है तथापि दोनों परोन्मुखी हैं-बन्धनकर्ता हैं। धर्म स्वोन्मुखी है, स्वाश्रय से होता है, संवर-निर्जरा रूप है। इसीलिए कहा है-

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।

तिन्ह ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥

उपरोक्त कथन का सार यही है कि 'इस जगत में मिथ्या (गलत) मान्यता जैसी कोई गरीबी नहीं है और सम्यक्-सही मान्यता जैसी कोई अमीरी नहीं है। सर्व दुखों की जड़ एक मात्र मिथ्या मान्यता ही है, शेष सब कथन मात्र ही है।' परीक्षाप्रधानी बनने हेतु स्व.मुनिराज वीरसागर जी मुनिवर सदैव सामयसारादि अध्यात्म ग्रंथों के स्वाध्याय प्रेमियों को प्रेरणा देते थे कि वे परीक्षामुख, न्यायदीपिका, प्रमेय रत्नमाला, अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि न्यायग्रंथों को अवश्य पढ़ें। क्यों कि न्याय ग्रंथ द्रव्यानुयोग के ही शास्त्र हैं। उससे प्रमाणज्ञान-नयज्ञान, कारण-कार्य व्यवस्था, भलीभाँति समझ में आती है। ॐ 'सहज चिदानंद',

- ब्र. हेमचंद्र जैन 'हेम' (भोपाल)

सम्यक् क्षायोपशमिक भाव चर्चा

- ब्र. हेमचंद्र जैन 'हेम' (भोपाल)

दि. 9.9.07

मंगलाचरण

अरिहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।

पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणं महोवयं सिरसा ॥

- अब यहाँ आगम के आलोक में क्षायोपशमभाव की व्याख्या की जाती है।

क्या है क्षायोपशमिक भाव ?

जिनागम में जीवों के असाधारण पाँच भाव कहे हैं - 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।' (तत्त्वार्थसूत्र, 2-1)

आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुदभूतिरुपशमः; यथा कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि पंकस्य उपशमः। क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः; यथा तस्मिन्नेवाम्भसिऽशुचि- भाजनान्तरसंक्रान्तपंकस्यात्यन्ताभावः। उभयात्मको मिश्रः, यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसम्बन्धात्पंकस्य क्षीणाऽक्षीणवृत्तिः। द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणांलप्राप्तिरुदयः। द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः एवं क्षायिकः क्षायोपशमिकः औदयिकः पारिणामिकश्च। त एते पञ्चभावा असाधारणा जीवस्य। स्वतत्त्वमित्युच्यन्ते। - (सर्वार्थसिद्धि - 2/1 टीका।)

अर्थ - औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये 5 भाव जीव के स्वतत्त्व हैं।

जैसे कतकादि द्रव्य (फिटकरी) के सम्बन्ध में जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निजशक्ति का कारणवश से प्रगट न होना उपशम है। जैसे उसी जल को दूसरे साफ बर्तन में बदल देने पर कीचड़ का अत्यंत अभाव हो जाता है, वैसे ही कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है। जिस प्रकार उसी जल में कतकादि द्रव्य के सम्बन्ध से कुछ कीचड़ का अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है, उसी प्रकार उभय रूप भाव मिश्र है। द्रव्यादि निमित्त के वश से कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय है और जिसके होने में द्रव्य का स्वरूप लाभ मात्र कारण है वह परिणाम है। जिस भाव का प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है, वह

औपशमिक भाव है। इसी प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों की व्युत्पत्ति कहनी चाहिए। ये पाँच भाव असाधारण हैं। इसलिए जीव के स्वतत्त्व कहलाते हैं।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं – 'ज्ञानाज्ञानदर्शन लब्धय - श्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्र संयमासंयमाश्च।' (तत्त्वार्थ सूत्र-2-5)

अर्थ – चार सम्यग्ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम।' इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में क्षायोपशमिक भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है। 'सर्वधातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेवस-दुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षायोपशमिको भावो भवति।'

अर्थ – वर्तमान काल में सर्वधाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सद्वस्थारूप उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है।

'तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तरायक्षयोपशमाद् व्याख्यातव्या। सम्यक्त्व-ग्रहणेनवेदक सम्यक्त्वं गृह्यते। अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादश-कषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सञ्ज्वलनकषाय चतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासम्भवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात्सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये सञ्ज्वलनकषायस्यदेशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषाय नवकस्य यथासम्भवोदये च विरताविरत परिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयम इत्याख्यायते।'

(सर्वार्थसिद्धि-2/5)

अर्थ – इन उपर्युक्त भावों में से ज्ञानादिभाव अपने अपने आवरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं, ऐसा व्याख्यान यहाँ कर लेना चाहिए। सूत्र में आये हुए सम्यक्त्वपद से वेदक सम्यक्त्व लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सद्वस्थारूप उपशम से देशघाति स्पर्द्धक वाली सम्यक्प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सद्वस्थारूप उपशम होने से तथा चार सञ्ज्वलनों में से किसी एकदेशघाती प्रकृति के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय होने पर और नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो त्यागरूप परिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक चारित्र है।

अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण – इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सद्वस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के और सञ्ज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय होने पर तथा नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो विरताविरत परिणामरूप परिणाम होता है, वह संयमासंयम कहलाता है।'

इसी सूत्र की तत्त्वार्थराजवार्तिक टीकानुसार – 'तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यय-ज्ञानंचेति। वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणानां सर्वधातिस्पर्द्धकाना-मुदयक्षयात् सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्द्धकानामुदये मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च भवति। देशघातिस्पर्द्धकानां रसस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगाद् गुणघातस्यातिशयानतिशयवत्त्वात् तज्ज्ञानभेदो भवति। एवमवधि मनःपर्ययज्ञानयोरपि स्वावरणक्षयोपशमभेदात् क्षायोपशमिकत्वं वेदितव्यम्।'

अर्थ – वहाँ चार प्रकार के ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। आभिनिबोधिक (मति)ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरण के सर्वधातिस्पर्द्धकों का उदयक्षय और आगामी का सद्वस्था उपशम होने पर तथा देशघातिस्पर्द्धकों का उदय होने पर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। देशघातिस्पर्द्धकों के अनुभाग तारतम्य से क्षयोपशम में भेद होता है। इसी तरह अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होते हैं।

'अज्ञानं त्रिविधं-मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति। तेषां क्षायोपशमिकत्वं पूर्ववत्। ज्ञानाऽऽज्ञानविभागस्तुमिथ्यात्वकर्मोदयाऽनुदयापेक्षः।'

अर्थ – मिथ्यात्वकर्म के उदय से मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान – ये तीन अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान (क्षायोपशमिक भाव) होते हैं।

'दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं। चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति।

एतत्त्रितयमपि पूर्ववत् स्वावरणक्षयोपशमापेक्षं द्रष्टव्यम्।’

अर्थ – तीन प्रकार का दर्शन क्षायोपशमिक होता है – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, और अवधिदर्शन – ये तीन दर्शन अपने-अपने आवरणों के क्षयोपशम से होते हैं।

‘लब्धयः पञ्चक्षायोपशमिक्यः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरूपभोगलब्धि-
वीर्यलब्धिश्चेति। ‘दानान्तरायादिसर्वघातिस्पर्द्धकक्षयोपशमे देशघाति-
स्पर्द्धकोदयसद्भावेताः पञ्चलब्धयो भवन्ति।’

अर्थ – दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य – ये पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदि के क्षयोपशम से होती हैं।

एक ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि अधिकतर देशघाति और सर्वघाति कर्म ऐसे होते हैं, जिनमें देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के स्पर्द्धक पाये जाते हैं। केवल नौ नोकषायों और सम्यक्त्वमोहनीय ये दस प्रकृतियाँ सर्वघातिस्पर्द्धकों से रहित होती हैं। इनमें मात्र देशघाति ही स्पर्द्धक पाये जाते हैं। अतः नौ नोकषायों को छोड़कर शेष सभी देशघाति कर्मों का क्षयोपशम सम्भव है; क्योंकि क्षयोपशम के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार क्षयोपशम में सर्वघाति स्पर्द्धकों का अनुदय एवं देशघाति स्पर्द्धकों का उदय इन दोनों प्रकार के कर्मों की भूमिका होती है। उसमें भी संयमासंयम भाव की प्राप्ति में प्रत्याख्यानवरण कर्म को अपेक्षा भेद से देशघाति मान लिया जाता है और सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व से मिलकर क्षयोपशमिक भाव को जन्म देती है। इसलिए क्षायोपशमिक भाव के केवल अठारह भेद ही घटित होते हैं। इन सब भावों में देशघाति स्पर्द्धकों का उदय होता है, इसलिए इन्हें वेदक भी कहते हैं। जितने भी क्षायोपशमिक भाव होते हैं, देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से वेदक भी कहलाते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इसमें सर्वघाति स्पर्द्धकों या सर्वघाति प्रकृतियों का वर्तमान समय में अनुदय रहता है इसलिए उनका उदय काल के एक समय पहले उदयरूप देशघाति स्पर्द्धकों या प्रकृति में क्षयोपशम भाव में स्तिबुक संक्रमण हो जाता है। प्रकृत में इसे ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। यहाँ उदय का अभाव ही क्षयरूप से विवक्षित है और आगामी काल में उदय में आने योग्य इन्हीं सर्वघाति प्रकृतियों व सर्वघाति स्पर्द्धकों का सत्ता में पड़े रहने रूप/सदवस्थारूप उपशम

रहता है, उनकी उदीरणा नहीं होती मात्र स्तिबुक संक्रमण के द्वारा इनका उदयकाल से एक समय पहले सजातीय देशघाति प्रकृति या स्पर्द्धकरूप से संक्रमण हो होकर निर्जरा होती रहती है।

सर्वघाति अंश/अनुभाग का उदय और उदीरणा न होने से जीव का स्वभावभाव, निर्मलपर्यायांशरूप से व्यक्त हो वर्तता रहता है और देशघाति अंश/अनुभाग का उदय रहने से उसमें सदोषतारूप मलिनपर्यायांश भी व्यक्त रूप से वर्तता रहता है। यही निर्दोषता के साथ सदोषता का मिलाजुला एक परिणाम मिश्रभावरूप क्षायोपशमिकभाव कहलाता है; इसमें निर्दोषतारूप पर्यायांश संवर-निर्जरा का हेतु – कारण होता है और सदोषतारूप पर्यायांश आस्रव-बन्ध का हेतु – कारण होता है।

देशघाति स्पर्द्धक, जब जघन्य भाव से उदय में आकर खिरते हैं, तब वे स्वप्रकृति के बन्ध करने में समर्थ नहीं होते परन्तु उतने अंश में जीव की पर्याय में सदोषता रूप परिणामन अवश्य होता है। जैसे, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव के समल तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का उदय ही कारण होता है तथापि उससे नवीन दर्शनमोहादि कर्मों का बन्ध नहीं होता। इसी तरह सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के सञ्ज्वलनलोभ का जघन्यभावरूप से उदय में आकर खिरना होता है, तब चारित्रगुण की पूर्ण वीतरागरूप निर्मल पर्याय का उद्भव नहीं होता और अल्प सदोषता होने पर भी उससे नवीन चारित्रमोह (सञ्ज्वलन) प्रकृति का बन्ध नहीं होता है, अन्य ज्ञानावरणादि 16 प्रकृतियों का बंध होता है। जो देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से होने वाले औदयिक कषायांश से ही होता है और सर्वघाति स्पर्द्धकों के अनुदय से प्रगट होने वाले वीतरागांश से संवर-निर्जरा ही होती है – ऐसे एक मिश्रभावरूप क्षायोपशमिक भाव से (क्षायोपशमिक चारित्र से) साधक जीवों के निरन्तर यथायोग्य संवर-निर्जरा एवं आस्रव-बन्ध होता ही रहता है।

इस विषय का और अधिक स्पष्टीकरण आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने संवरतत्त्व की भूल में मोक्षमार्गप्रकाशक में पृष्ठ 227/228 पर किया है, जो निम्नप्रकार है –

‘तथा संवरतत्त्व में अहिंसादिरूप शुभास्रवभावों को संवर जानता है; परन्तु एक ही कारण से पुण्यबन्ध भी मानें और संवर भी मानें – वह नहीं हो सकता।

प्रश्न – मुनियों के एक काल में एक भाव होता है, वहाँ उनके बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है?

समाधान – वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है कुछ सराग रहा है, जो अंश वीतराग हुए उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे उनसे बन्ध है, सो एक भाव से तो दो कार्य बनते हैं, परन्तु एक प्रशस्त राग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव में भी यह सरागता है, यह वीतरागता है – ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि ही के होती है, इसलिए अवशेष सरागता को हेयरूप श्रद्धा करता है, मिथ्यादृष्टि के ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिए सरागभाव में संवर के भ्रम से प्रशस्त रागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धा करता है तथा सिद्धान्त में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र इनके द्वारा संवर होता है – ऐसा कहा है। (स गुप्तिसमिति- धर्मानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः) सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। तथा इस तथाकथित व्यवहाराभासी संयमी जीव की चारित्र (धर्म) के बारे में कैसी अभिप्राय की भूल पड़ी रहती है उस सम्बन्ध में सातिशय प्रज्ञा के धनी आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में पृष्ठ 229-230 पर – निम्न प्रकार खुलासा किया है –

चारित्र – तथा हिंसादि सावद्य योग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादि रूप शुभ योग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है; परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हो? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है, इसलिए महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं होता; सकलकषायरहित जो उदासीनभाव, उसी का नाम चारित्र है।

जो चारित्रमोह के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है (विकार है), उसे छूटना न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं; परन्तु जैसे –कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोष वाली हरितकाय का त्याग करता है, और कितनी ही हरितकार्यों का भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नहीं मानता। उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो चारित्र के 13 भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधान – वह व्यवहार चारित्र कहा है और व्यवहार नाम उपचार का है सो महाव्रतादि होने पर ही वीतरागचारित्र होता है – ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है। निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है।

सभी आगमवेत्ता यह बात भलीभाँति जानते हैं कि इस जीव को – ‘अनादिसम्बन्धे च’ (तत्त्वार्थ सूत्र-2/41) इस आगम सूत्र के अनुसार अनादि ही से तैजस व कार्मण शरीरों का सम्बन्ध है। कार्मण शरीर ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-नाम-गोत्र-अन्तराय – इन आठ कर्मों का समूहरूप अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है।

इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, ये 4 कर्म, आत्मगुण घातक अर्थात् आत्मा का स्वभाव व्यक्त न होने देने में निमित्त होने से घातिकर्म कहलाते हैं। शेष चार कर्म – वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र – ये आत्मगुण घातक न होने से बाह्य संयोग (गति, जाति, शरीर, बाह्य सुख-दुःख के कारणरूप परद्रव्यों का संयोग, प्राप्त शरीर का आयु की स्थितिपर्यंत टिकना) आदि में निमित्त होने से अघातिकर्म कहे जाते हैं। घातिकर्मों में भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय – इन तीन कर्मों का अनादि ही से क्षयोपशम पाया जाता है। इन कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से जिसको जितने ज्ञान, दर्शन, वीर्य प्रगट है, वह उस जीव के स्वभाव का अंश ही है, कर्मजनित औपाधिक भाव नहीं है। इस स्वभाव के अंश का अनादि से लेकर कभी अभाव नहीं होता। इस ही के द्वारा जीव के जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है। इस जानने-देखने रूप स्वभाव से नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता क्योंकि निज स्वभाव ही बन्ध का कारण हो तो फिर बन्ध से कभी भी छूटना नहीं हो सकता।

इन कर्मों के उदय से जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभावरूप हैं, उनसे भी बन्ध नहीं है; क्योंकि जिसका स्वयं सद्भाव न हो (अभाव हो), वह अन्य को बन्धादि का कारण नहीं हो सकता; इसलिए ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय के निमित्त से उत्पन्न भाव, नवीन बन्ध के कारण नहीं हैं। इन तीन कर्मों का कभी भी उपशम नहीं होता, मात्र उदय, क्षयोपशम एवं क्षय ही होता है। 12वें गुणस्थानपर्यंत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट रहते हैं।

पश्चात् 13 वें गुणस्थान से लेकर आगे अशरीरी सिद्धावस्था में अनन्त काल तक क्षायिक भाव वर्तता रहता है अर्थात् अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख अनन्त काल तक एक रूप प्रगट बने रहते हैं।

तथा मोहनीय कर्म के उदय से जो जीव के स्वभाव नहीं हैं - ऐसे मिथ्याश्रद्धान एवं क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों की व्यक्तता अनादि से ही पायी जाती है। ये ही इस जीव के औपाधिक, औदयिक चिद्विकाररूप विभावभाव हैं; इनसे ही नवीन कर्मबन्ध होता है, इसलिए मोह के उदय से उत्पन्न भाव ही बन्ध के कारण हैं। दर्शनमोह के उदय से अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव एवं चारित्रमोह के उदय से क्रोधादि कषायभाव होता है। स्वरूप की अश्रद्धा, - अप्रतीति, स्व-पर के एकत्व का अध्यास किंवा काया व कषायों में एकत्वबुद्धि ही मोह मिथ्यात्व है तथा स्वरूप में साम्यभाव (वीतरागता) रूप स्थिरता न होना या क्षुब्ध रहना ही चारित्रमोह है।

यह जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि है अर्थात् इस जीव की दृष्टि अनादि से ही मिथ्या है। इसका सच्चिदानंद द्रव्यस्वभाव शक्तिरूप सामर्थ्य तो सदैव विद्यमान है परन्तु पर्यायदृष्टि होने से असमानजातीय द्रव्यपर्याय जितना ही अपने को माने बैठा है। जिनेन्द्रदेव के अलावा अन्य देवादि के सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को ही मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता।

कितने ही जैन बन्धु (1) कुलक्रम से कितने ही (2) परीक्षा रहित आज्ञानुसारी होकर, कितने ही (3) आजीविकादि सांसारिक प्रयोजन साधनार्थ और कितने ही (4) धर्मबुद्धि से धर्म धारक होते हैं; परन्तु निश्चय वीतरागभावरूप आत्मधर्म को नहीं जानते; इसलिए अभूतार्थ रूप व्यवहारधर्म को साधते रहते हैं। व्यवहार या सराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र को ही निश्चय मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते रहते हैं। उन जीवों की इस विशुद्ध परिणामरूप भलीवासना से भले निमित्त से कदाचित् कर्म के स्थिति-अनुभाग घट भी जाये और तत्त्वविचारपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त भी हो जायें, परन्तु तत्त्वविचार रहित जीव परमार्थ स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पहिचाने बिना अन्य किसी भी उपाय से सच्चे मुक्तिमार्ग को असंख्य कल्पकालों में भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

प्रश्न - इसका क्या कारण है?

इसका समाधान यह है कि 'शुभाशुभभावों से पुण्य-पाप का फर्क विशेष तो अघाति कर्मों में होता है, जो आत्मगुण घातक नहीं हैं, तथा शुभाशुभभावों से घातिकर्मों का तो निरंतर बन्ध होता ही रहता है, वे सर्व पापरूप ही हैं और वे ही आत्मगुणों के घातक हैं; इसलिए शुभाशुभ दोनों ही अशुद्धभाव हैं और इन अशुद्ध(औदयिक)भावों से कर्मबन्ध होता रहता है। इन पुण्य-पापरूप कर्मों को या इनके बन्ध के कारण जो शुभाशुभभाव, उनको भला-बुरा जानना-मानना ही मिथ्याश्रद्धान है। इसकी साक्षी जिनागम में सर्वत्र है। प्रवचनसार की गाथा 77 - समयसार गाथा - 145, आदि अनेक जगहों पर पुण्य-पाप की एक कर्मरूप जाति सिद्ध की गयी है। अतः शुभोपयोग भी अशुभोपयोग की भाँति बन्धकारक होने से औदयिक ही है, क्षायोपशमिक नहीं।

वस्तुतः जो जीव अपने स्वयं के चिन्तन से भ्रमवश शुभोपयोग को क्षायोपशमिक चारित्ररूप करके मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानते हैं, उनकी ऐसी मान्यता आगम-विरुद्ध है, मिथ्यात्व-पोषक है, सत्य से परे है।

**'जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर नहि सुख अवलोके।'**

वे लोग ऐसा कहते हुए भी इन पुण्य-पाप भावों से रहित वीतरागभावस्वरूप शुद्धोपयोग को नहीं पहिचानते, उन्हें शुभ-अशुभ दोनों को अशुद्धता की अपेक्षा एवं बन्ध कारण की अपेक्षा समान बतलाया है। हाँ, इतना अवश्य है कि शुभ-अशुभ का परस्पर विचार करें तो शुभभावों में कषायें मन्द होने से बन्ध हीन होता है और अशुभभावों में कषायें तीव्र होने से बन्ध अधिक होता है; इसलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, यथापदवी निचली दशा में जहाँ मुनिराजवत् शीघ्र-शीघ्र शुद्धोपयोग नहीं हो सकता, अशुभभाव रूप तीव्रकषायरूप अव्रतादि परिणामों से बचे रहने के लिए तथा संसार-स्थिति छेदने के लिए मन्दकषायरूप व्यवहार व्रतादि परिणामरूप आचरण आचरते हैं। उस काल में वे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, उस शुभोपयोग को औषधिवत् उपयोगी जानते हैं, उपादेय नहीं मानते हैं। शुभोपयोग को छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवर्तन नहीं करते हैं।

यदि कोई निर्विचारी पुरुष, व्यवहार व्रतादि सरागचारित्र को सर्वथा अनुपयोगी जानकर, छोड़ बैठे तो विषयकषायरूप अशुभाचरणी होकर नरकादि में चला जायेगा। वस्तुतः व्रत-शील-संयम का नाम व्यवहार नहीं है। इसको

मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है, अतः उसको मोक्षमार्ग मानना छोड़कर ऐसा श्रद्धान करना चाहिए कि इन व्रतादि को बाह्य सहकारी निमित्त कारण जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। यह परद्रव्याश्रित होने से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है। सच्चा तो स्वद्रव्याश्रित वीतरागभाव मात्र ही निश्चय मोक्षमार्ग होता है। यद्यपि साधक अवस्था में दोनों युगपत् होते हैं, तथापि सराग/व्यवहार/द्रव्यसंयम बुद्धिपूर्वक ग्रहण किये बिना, वीतराग/निश्चय/भाव संयम कदापि प्रगट नहीं होता। इसी अविनाभाव संबंध होने के कारण व्यवहार को निश्चय का हेतु कहा है।

आगम के आलोक में -

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन एवं क्षायोपशमिक चारित्र-

(1) धवला पु. 1/146/400-

प्रश्न - क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर - दर्शनमोहनीयकर्म के उदय का वेदन करने वाले जीव को वेदक कहते हैं। उसके जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न - जिनके दर्शनमोहनीय कर्म का उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जाता है?

उत्तर - नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीय की देशघाती प्रकृति के उदय रहने पर भी जीव के स्वभावरूप श्रद्धान के एकदेश रहने में कोई विरोध नहीं आता है।

(2) धवला - 1/1, 33/235 -

‘सर्वजीवावयवेषु क्षायोपशमस्यो-त्पत्यभ्युपगमात्।’

अर्थ - जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षायोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है।

(3) लब्धिसार - 191/245 -

(अ) सकलचारित्र 3 प्रकार है - क्षायोपशमिक, औपशमिक व क्षायिक।

तहाँ पहला क्षायोपशमिकचारित्र सातवें व छठवें गुणस्थान विषै पाइये हैं। ताकौ जो जीव, उपशम-सम्यक्त्व सहित ग्रहण करे हैं, सो मिथ्यात्व तैं ग्रहण करे हैं। ताका तो सर्व विधान प्रथमोपशम-सम्यक्त्ववत् जानना। क्षायोपशमसम्यक्त्व को ग्रहता जीव, पहले अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त हो है। वेदकसम्यक्त्वसहित क्षायोपशम चारित्र को मिथ्यादृष्टि वा अविरत व देशसंयत जीव, देशव्रत-ग्रहणवत् अधःप्रवृत्त वा अपूर्वकरण

इन दोय करण करि ग्रहण करै है। तहँ करणविषै गुणश्रेणी नाहीं है। सकलसंयम का ग्रहण समय तैं लगाय गुणश्रेणी हो है।

(इ) इहाँ तै ऊपर अल्पबहुत्वपर्यन्त जैसे पूर्वे देशविरत विषै व्याख्यान किया है, तैसे सर्व व्याख्यान यहाँ जानना। विशेषता इतनी - वहाँ जहाँ देशविरत कह्या है, इहाँ तहाँ सकलविरत जानना।

(4) धवला - 1/1/11/169 -

तृतीय मिश्र गुणस्थान (सम्यग्मिथ्यात्व) को क्षायोपशमिकभाव, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की मुख्यता से ही कहा है, उसीप्रकार चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती असंयत क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्वादि के क्षयोपशमिक की मुख्यता से न मानकर सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की प्रधानता से ही कहा समझना चाहिए, क्योंकि चल-मल-अगाढरूप शिथिलता का कारण सम्यक्त्व प्रकृति का उदय ही है।

इसी प्रकार पाँचवें संयतासंयत (देशविरत) गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदयाभावी क्षय एवं उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से संयमासंयम रूप अप्रत्याख्यानचारित्र ही प्रगट होता है इसमें संयमभाव की उत्पत्ति का कारण, त्रस हिंसा से विरतिभाव है और असंयमभाव की उत्पत्ति का कारण, स्थावर हिंसा से अविरतिभाव है; इसमें भी अप्रत्याख्यानावरण का अनुदय त्रसहिंसा से विरतिरूप संयम अंश का एवं प्रत्याख्यानावरण का उदय स्थावर हिंसा से विरति न होने रूप असंयम अंश का नियामक कारण है, इसमें क्षयोपशम का लक्षण घटित होने से संयमासंयम (देशविरति) को क्षायोपशमिक भाव कहा है।

इसी क्रम से छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसंयतादि गुणस्थानों में पाये जानेवाले क्षायोपशमिकचारित्र पर भी घटित कर लेना चाहिए। जो जीव, प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं, उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं। इन्हीं जीवों (मुनिराज भगवतों) का जब संयम प्रमादरहित होता है, तब उन्हें ही अप्रमत्तसंयत कहते हैं अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवों के पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नहीं पाया जाता, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिए। संयम की अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है क्योंकि प्रत्याख्यानावरणकषाय का अनुदयरूप क्षयोपशम तथा संज्वलनकषाय के उदय से प्रत्याख्यानचारित्र (संयम) प्रगट होता है।

(5) धवला- 1/1/15/178 -

शंका - संज्वलनकषाय के उदय से संयम होता है, इसलिए उसे औदयिक नाम से क्यों नहीं कहा जाता?

समाधान - नहीं, क्योंकि संज्वलनकषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका - तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है?

समाधान - प्रत्याख्यानावरणकषाय के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से (और उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से) उत्पन्न हुए संयम में मल के उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है। संयम के कारणभूत सम्यग्दर्शन की अपेक्षा तो ये गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक, और औपशमिक भाव निमित्तक हैं।

शंका - यहाँ पर सम्यग्दर्शन की जो अनुवृत्ति बतलायी है, उससे क्या यह तात्पर्य निकलता है कि सम्यग्दर्शन के बिना भी संयम की उपलब्धि होती है?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका - यहाँ पर द्रव्यसंयम (द्रव्यलिंग) का ग्रहण नहीं किया है। यह कैसे जाना जाय?

समाधान - नहीं, क्योंकि भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यमसहित है, उसे संयत कहते हैं। संयत शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्य संयम का ग्रहण नहीं किया है। कहा भी है -

वत्तावत्त पमाए जो वसइ पमत्त संजदो होई ।

सयल-गुण-शील कलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥113 ॥

विकहा तहा कसाया इंदिय णिदा तहेव पणयो य ।

चदुचदुपणमेगेगं होंति पमादा य पणरसा ॥114 ॥

अर्थ - जो व्यक्त (स्वसंवेद्य) और अव्यक्त (प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा जानने योग्य) प्रमाद में वास करता है, जो सम्यक्त्व-ज्ञानादि संपूर्ण गुणों से और व्रतों के रक्षण करने में समर्थ ऐसे शीलियों से युक्त है, जो (देशसंयत की अपेक्षा) महाव्रती हैं और जिसका आचरण सारंग के समान शवलित अर्थात् अनेक प्रकार का है।

अथवा चित्त में प्रमाद को उत्पन्न करनेवाला जिसका आचरण है, उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं।

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अविनिपालकथा - ये चार विकथाएँ, क्रोध-मान-माया-लोभ - ये चार कषायें, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र - ये पाँच इंद्रियाँ, निद्रा और प्रणय; इस प्रकार प्रमाद पंद्रह प्रकार का होता है।

सारांश यह है कि प्रमत्तसंयत छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्द्धकों का तीव्र उदय होता है और अप्रमत्त सातवें गुणस्थान में मन्द उदय होता है। छठवें प्रमत्तसंयत तक बुद्धिपूर्वक अट्टाईस मूलगुणों के निरतिचार पालन करने का शुभोपयोगरूप भाव होता है तथा सातवें अप्रमत्तसंयत से दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक संज्वलन के मन्द उदय से होनेवाला तारतम्यरूप घटता हुआ अबुद्धिपूर्वक शुभभावरूप रागांश बढ़ते हुए शुद्धोपयोगरूप वीतरागांशसहित पाया जाता है। इस संबंध में आचार्यकल्प पं.टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 286 पर निम्न प्रकार खुलासा किया है -

‘करणानुयोग में तो रागादिरहित शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा, निचली अवस्थावाला शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे? तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग का ही मुख्य उपदेश है। इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं।

यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है; इसलिए द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार यथाख्यातचारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परंतु निचली दशा में द्रव्यानुयोगापेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है परंतु करणानुयोग अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

(6) धवला- 2/7 - पृष्ठ 9 से 13 -

जे बंधयरा भावा मोक्खयरा भावि जे दु अज्जप्पे ।

जे भावि बंधमोक्खे अकारया ते वि विण्णेया ॥१ ॥

मिच्छन्ताविरदि वि य कसायजोगा य आसवा ह्येति ।
 दंसण-विरमण णिग्गह-णिरुहया संवरा ह्येति ॥२ ॥
 ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
 भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होदि ॥३ ॥

सिद्ध अबंधक हैं ॥ ७ ॥

क्योंकि सिद्ध बन्ध-कारणों से व्यतिरिक्त मोक्ष के कारणों से संयुक्त पाये जाते हैं।

शंका - वे बन्ध के कारण कौनसे हैं? क्योंकि बन्ध के कारण जाने बिना मोक्ष के कारणों का ज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है -

जो बन्ध के उत्पन्न करनेवाले भाव हैं और जो मोक्ष को उत्पन्न करनेवाले आध्यात्मिक भाव हैं, तथा जो बन्ध और मोक्ष दोनों को नहीं उत्पन्न करने वाले भाव हैं, वे सब भाव जानने योग्य हैं ॥१ ॥

अतएव बन्ध के कारण बतलाना चाहिए?

समाधान - मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग - ये चार बन्ध के कारण हैं और सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय और अयोग - ये चार मोक्ष के कारण हैं। कहा भी है - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मों के आस्रव अर्थात् आगमनद्वार हैं तथा सम्यग्दर्शन, विषय-विरक्ति, कषाय-निग्रह और मन-वचन-काय का निरोध - ये संवर अर्थात् कर्मों के निरोधक हैं ॥२ ॥

शंका - यदि ये ही मिथ्यात्वादि चार बन्ध के कारण हैं तो औदयिकभाव बन्ध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं, तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं ॥३ ॥

इस सूत्रगाथा के साथ विरोध उत्पन्न होता है।

समाधान - विरोध नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि 'औदयिकभाव बन्ध के कारण है' ऐसा कहने पर सभी औदयिकभावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वैसा मानने पर गति, जाति आदि नामकर्म संबंधी औदयिकभावों के भी बन्ध के कारण होने का प्रसंग आ जायेगा।

शंका - देवगति के उदय के साथ भी तो कितनी ही प्रकृतियों का बन्ध होना देखा जाता है, फिर उनका कारण देवगति का उदय क्यों नहीं होता?

समाधान - उनका कारण देवगति का उदय नहीं होता, क्योंकि देवगति के उदय के अभाव में नियम से उनके बन्ध का अभाव नहीं पाया जाता। 'जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है।' (अर्थात् जब एक के सद्भाव में दूसरे का सद्भाव और उसके अभाव में दूसरे का भी अभाव पाया जावे तभी उनमें कारण कार्य-भाव संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं।) **इस न्याय से मिथ्यात्व आदिक ही बन्ध के कारण हैं।**

इन कारणों में मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, व चतुरिन्द्रिय जाति, हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिका शरीरसंहनन, नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण - इन सोलह प्रकृतियों के बन्ध का मिथ्यात्वोदय कारण है, क्योंकि मिथ्यात्वोदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ इन सोलह प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है।

निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यचायु, तिर्यचगति, न्यग्रोध-स्वाति-कुब्जक-वामन-शरीर-संस्थान, वज्रनाराच-नाराच-अर्धनाराच कीलित शरीरसंहनन, तिर्यचगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त-विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और नीचगोत्र - इन पच्चीस प्रकृतियों के बन्ध में अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का उदय कारण है क्योंकि उसी के उदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ इन प्रकृतियों का भी अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है।

अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिकशरीर, औदारिक-शरीरांगोपांग, वज्रवृषभसंहनन और मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियों के बन्ध का अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय कारण है, क्योंकि उसके बिना इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता।

प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ - इन चार प्रकृतियों के बन्ध का कारण इन्हीं का उदय है, क्योंकि अपने उदय के बिना इनका बन्ध नहीं पाया जाता।

असातावेदनीय अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशकीर्ति - इन छह प्रकृतियों के बन्ध का कारण प्रमाद है, क्योंकि प्रमाद के बिना इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता।

शंका – प्रमाद किसे कहते हैं?

समाधान – चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय – इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।

शंका – पूर्वोक्त चार बन्ध के कारणों में प्रमाद का कहाँ अंतर्भाव होता है?

समाधान – कषायों में प्रमाद का अंतर्भाव होता है, क्योंकि कषायों से पृथक् प्रमाद नहीं पाया जाता।

देवायु के बन्ध का भी कषाय ही कारण है, क्योंकि प्रमाद के हेतुभूत कषाय के उदय के अभाव से अप्रमत्त होकर मन्दकषाय के उदयरूप से परिणत हुए जीव के देवायु के बन्ध का विनाश पाया जाता है।

निद्रा और प्रचला – इन दो प्रकृतियों के भी बन्ध का कारण कषायोदय ही है, क्यों कि अपूर्वकरण काल के प्रथम सप्तम भाग में संज्वलन कषायों के उस काल के योग्य तीव्रोदय होने पर इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है। देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक – तैजस, और कार्मण शरीर, समचतुरस्र-संस्थान, वैक्रियिक-शरीरांगोपांग, आहारक-शरीरांगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक-शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर – इन तीस प्रकृतियों के भी बंध का कषायोदय ही कारण है, क्योंकि अपूर्वकरण काल के सात भागों में से प्रथम छह भागों के अंतिम समय में मंदतर कषायोदय के साथ इनका बन्ध पाया जाता है।

हास्य, रति, भय और जुगुप्सा – इन चार के बन्ध का अधःप्रवृत्त और अपूर्वकरण संबंधी कषायोदय कारण है, क्योंकि उन्हीं दोनों परिणामों के कालसंबंधी कषायोदय में ही इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है।

चार संज्वलन कषाय और पुरुषवेद – इन पाँच प्रकृतियों के बन्ध का बादर कषाय कारण है, क्योंकि सूक्ष्मकषाय गुणस्थान में इनका बन्ध नहीं पाया जाता। पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अंतराय – इन सोलह प्रकृतियों का सामान्य कषायोदय (सूक्ष्म साम्पराय) कारण है, क्योंकि कषायों के अभाव में इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता। सातावेदनीय के बन्ध का योग ही कारण है, क्योंकि मिथ्यात्व, असंयम और कषाय – इनका अभाव होने पर भी एकमात्र योग के साथ ही इस प्रकृति का बन्ध पाया जाता है और योग के

अभाव में इस प्रकृति का बन्ध नहीं पाया जाता।

इनके अतिरिक्त और अन्य कोई बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ नहीं हैं जिससे कि उनका कोई अन्य कारण हो।

शंका – असंयम भी बन्ध का कारण कहा गया है, सो वह किन प्रकृतियों के बन्ध का कारण होता है?

समाधान – यह शंका ठीक नहीं, क्यों कि संयम के घातक कषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय का ही नाम असंयम है।

शंका – यदि असंयम कषायों में ही अंतर्भूत होता है, तो फिर उसका पृथक् उपदेश किसलिए किया जाता है?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्यों कि व्यवहारनय की अपेक्षा से उसका पृथक् उपदेश किया गया है। बन्ध कारणों की यह प्ररूपणा पर्यायार्थिकनय का आश्रय करके की गयी है, पर द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करने पर तो बन्ध का कारण केवल एक ही है, क्योंकि कारण-चतुष्क के समूह से ही बंधरूप कार्य उत्पन्न होता है।

(7) जयधवला – 1, पृष्ठ 5 से 8 –

यदि कोई कहे कि परमागम के उपयोग से कर्मों का नाश होता है – यह बात असिद्ध है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय, तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है। कहा भी है –

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।

भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥१॥

अर्थ – औदयिक भावों से कर्मबंध होता है, औपशामिक, क्षायिक और मिश्रभावों से मोक्ष होता है, परंतु पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष इन दोनों का कारण नहीं है।

विशेषार्थ – यहाँ समाधान करते हुए शुद्धपरिणामों के समान शुभपरिणामों को भी कर्मक्षय का कारण बतलाया है पर इसकी पुष्टि के लिए प्रमाणरूप से जो गाथा उद्धृत की गयी है, उसमें औदयिकभावों से कर्मबंध होता है – यह कहा है। इस प्रकार उक्त दोनों कथनों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते हैं, क्षयोपशम आदि से नहीं। इसलिए जबकि औदयिकभाव, कर्मबंध के कारण हैं, तो शुभपरिणामों से कर्मों का बंध

ही होना चाहिए, क्षय नहीं। इसका समाधान यह है कि यद्यपि शुभपरिणाम मात्र कर्मबन्ध के कारण हैं, फिर भी जो शुभपरिणाम सम्यग्दर्शन आदि की उत्पत्ति के समय होते हैं और जो सम्यग्दर्शन आदि के सद्भाव में पाये जाते हैं, वे आत्मा के विकास में बाधक नहीं होने के कारण उपचार से कर्मक्षय के कारण कहे जाते हैं।

इसी प्रकार क्षायोपशमिकभावों में भी प्रायः देशघाति कर्मों के उदय की अपेक्षा रहती है, इसलिए उदयाभावी क्षय और सद्वस्त्वरूप उपशम से आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, उसे यद्यपि उदयजन्य मलिनता से पृथक् नहीं किया जा सकता है, फिर भी वह मलिनता क्षयोपशम से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन आदि का नाश नहीं कर सकती है और न कर्मक्षय में बाधक ही हो सकती है, इसलिए गाथा में क्षायोपशमिकभाव को भी कर्मक्षय का कारण कहा है।

यदि कहा जाय कि परमागम के उपयोग से कर्मों का क्षय होने पर भी प्रारंभ किये हुए कार्य में विघ्नों की और विद्यारूप फल के प्राप्त न होने की संभावना तो बनी ही रहती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है अर्थात् जबकि परमागम के उपयोग से विघ्न के और विद्याफल के भाव प्राप्त न होने के कारणभूत कर्मों का नाश हो जाता है, तब फिर उन कर्मों के कार्यरूप विघ्न का सद्भाव और विद्याफल का अभाव बना ही रहे, यह कैसे संभव है? कारण के अभाव में कार्य नहीं होता, यह सर्वमान्य नियम है; अतः यह निश्चित हुआ कि परमागम के उपयोग से विघ्नों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का नाश हो जाता है।

यदि कहा जाय कि श्रद्धानुसारी अर्थात् आगम में जो लिखा है या गुरु ने जो कुछ कहा है, उसका अनुसरण करनेवाले, शिष्यों में देवता-विषयक भक्ति को उत्पन्न कराने के लिए मंगल किया जाता है; सो भी नहीं है, क्योंकि मंगल के बिना भी केवल गुरुवचन से ही उनमें देवता-विषयक भक्ति की उत्पत्ति देखी जाती है।

यदि कहा जाय कि प्रमाणानुसारी अर्थात् युक्ति के बल से आगम या गुरुवचन को प्रमाण माननेवाले शिष्यों में देवता-विषयक भक्ति को उत्पन्न करने के लिए मंगल किया जाता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो शिष्य, युक्ति की अपेक्षा किये बिना मात्र गुरुवचन के अनुसार प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाणानुसारी मानने में विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि शास्त्र के आदि में किये गये मंगल से भक्तिमानों में

भक्ति का उत्पन्न किया जाना संभव है, सो भी ठीक नहीं है, क्यों कि जो कार्य उत्पन्न हो चुका है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानने में विरोध आता है; अर्थात् जिनमें पहले से ही श्रद्धामूलक भक्ति विद्यमान है, उनमें पुनः भक्ति के उत्पन्न करने के लिए मंगल का किया जाना निरर्थक है।

यदि कहा जाय कि शिष्यों में सम्यक् श्रद्धा का अस्तित्व असिद्ध है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि अहेतुवादस्वरूप अर्थात् जो युक्ति-प्रयोग के बिना स्वयं प्रमाण है - ऐसे दृष्टिवाद अंग का सुनना सम्यक्त्व के बिना बन नहीं सकता है, इसलिए उनके सम्यक्त्व का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा और सत्कार की इच्छा से भी अनेक शिष्य दृष्टिवाद को सुनते हैं, अतः अहेतुवादात्मक दृष्टिवाद का सुनना सम्यक्त्व के बिना नहीं बन सकता है, यह कथन व्यभिचारी हो जाता है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्व के बिना श्रवण करनेवाले शिष्यों को द्रव्यश्रवण को छोड़कर भावश्रवण नहीं पाया जाता है अर्थात् जो शिष्य, सम्यक्त्व के न होने पर भी केवल लाभादिक की इच्छा से दृष्टिवाद का श्रवण करते हैं, उनका सुनना केवल सुनना मात्र है, उससे थोड़ा भी आत्मबोध नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि यहाँ द्रव्यश्रवण से ही प्रयोजन है, सो भी ठीक नहीं है, क्यों कि द्रव्यश्रवण से अज्ञान का निराकरण होकर कर्मक्षय के निमित्तभूत सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; अतः इस प्रकार के शुद्धनय के अभिप्राय से गुणधर भट्टारक और यतिवृषभ स्थविर ने गाथासूत्रों और चूर्णिसूत्रों के आदि में मंगल नहीं किया है ऐसा समझना चाहिए; किन्तु गौतम-स्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादि रूप से मंगल किया है।

यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है; अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए - ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है।

यदि कहा जाय कि पुण्यकर्म के बाँधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है, सो

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्यबन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है, अर्थात् पुण्यबन्ध के कारणभूत कामों को जैसे देशव्रती श्रावक करते हैं, वैसे ही मुनि भी करते हैं, मुनि के लिए उनका एकान्त से निषेध नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिए यहाँ कहा जा रहा है, उसी प्रकार उनके सराग संयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है, क्यों कि देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबन्ध का कारण है।

यदि कहा जाय कि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्ति-गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि सरागसंयम गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है, क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी होती है, अतः सरागसंयम में मुनियों की प्रवृत्ति का होना योग्य है, सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अरहंत नमस्कार, तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, इसलिए सरागसंयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। कहा भी है- 'जो विवेकी जीव, भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥११॥'

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सोना, खाना, जाना, वापिस आना और शास्त्र का प्रारंभ करना आदि क्रियाओं में अरहंत नमस्कार अवश्य करना चाहिए; किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से गुणधर भट्टारक का यह अभिप्राय है कि परमागम के अतिरिक्त अन्य सब क्रियाओं में अरहंत नमस्कार नियम से करना चाहिए, क्योंकि अरहंत नमस्कार किये बिना प्रारंभ की हुई क्रिया से मंगल की उपलब्धि नहीं होती अर्थात् सोना, खाना, आदि क्रियाएँ स्वयं मंगलरूप नहीं है; अतः उनमें मंगल का किया जाना आवश्यक है, किंतु शास्त्र के प्रारंभ में मंगल करने का नियम नहीं है क्योंकि परमागम के उपयोग में स्वयं मंगलस्वरूप होने से उसमें मंगल फल की प्राप्ति अनायास हो जाती है। इसी अर्थ-विशेष का ज्ञान कराने के लिए गुणधर भट्टारक ने ग्रंथ के आदि में मंगल नहीं किया है।

(८) प्रवचनसार गाथा १ - (तात्पर्यवृत्ति टीका में) -

शुभ-अशुभ-शुद्ध - इन तीनरूप उपयोगों को चौदह गुणस्थानों में वर्गीकृत कर संक्षेप में समझाया है। -

'मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाऽशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयत-गुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायाऽन्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग फलमितिभावार्थः।'

अर्थ - 'मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र - इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (घटता हुआ) अशुभोपयोग, इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत - इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग, इसके आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीण कषाय पर्यन्त गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुद्धोपयोग, इसके बाद सयोगी जिन और अयोगी जिन - ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग के फल हैं - यह भावार्थ है।'

विशेषार्थ - चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त विभाजन में यहाँ टीका में तारतम्य से, पहले से तीसरे तक अशुभोपयोग, चौथे से छठवें तक शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग कहा है परन्तु यह कथन मुख्यता/बहुलता की दृष्टि से कथंचित ही है, सर्वथा नहीं। वह इस प्रकार है -

पहले गुणस्थानवर्ती जीव भी शुक्ललेश्या में मरण कर नवमें गैवेयक तक तथा दूसरे गुणस्थानवाले देवों में उत्पन्न होते हैं। देवायु का बंध शुभभावों से होता है अतः यहाँ अशुभोपयोग के साथ शुभभाव भी स्वतःसिद्ध है।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित सम्यक्त्वाचरणचारित्र तथा पाँचवें-छठवें गुणस्थान में पूर्वोक्त सहित क्रमशः देशचारित्र, सकलचारित्ररूप रत्नत्रय-संवर-निर्जरातत्त्व विद्यमान हैं; अतः शुद्धोपयोग तथा शुद्धपरिणति सहजसिद्ध है। चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अविरति, देशविरति, प्रमाद, कषाय, योग से होनेवाला अशुभ आस्रवभाव तथा आर्तध्यान-रौद्रध्यान भी पाया जाता है; इस प्रकार यहाँ अशुभोपयोग भी सिद्ध है।

सातवें से दसवें गुणस्थान तक भी अव्यक्त विद्यमान भय आदि संज्ञाएँ तथा संज्वलनकषाय आदि से होनेवाले बन्ध से अशुद्धता भी आगमसिद्ध है।

इसप्रकार पहले से तीसरे गुणस्थान तक बहुलतया अशुभोपयोग और गौणतया शुभभाव है। चौथे से छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग की अधिकता है, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग अपेक्षाकृत कम यथायोग्य तथा शुद्धपरिणति सदाकाल विद्यमान है। आगे सातवें से दसवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग तथा आगमसिद्ध

(अव्यक्तकषायरूप) अशुद्धता विद्यमान है। शेष गुणस्थान शुद्धोपयोग और उसके फलरूप ही हैं, वहाँ शुभभाव रंचमात्र भी नहीं है।

उपरोक्त सर्वकथन केवली-श्रुतकेवली कथित सम्यग्ज्ञान के एक अवयवरूप करणानुयोग का है; जिसमें जीव-कर्मादिक का, त्रिलोकादि का तथा मोक्षमार्ग के अवयव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का निरूपण कर्मप्रकृतियों के उदय-उपशमादिक की अपेक्षा सूक्ष्मतासहित निमित्त-नैमित्तिक भावों को याथातथ्यरूप में दर्शाते हुए किया जाता है। इसमें छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं किया जाता है।

जैसे, कितने ही जीव बाह्य में तत्त्वविचार करते हैं, व्रतादिक पालते हैं; तथापि अन्तरंग में मोहोदय विद्यमान होने से सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति प्रगट न होने से मिथ्यात्वी-अव्रती ही बने रहते हैं। तथा कितने ही जीव, द्रव्यादि और व्रतादिक के विचाररहित हों व अन्य शुभाशुभ कार्यों में प्रवर्तते हों, किन्तु अन्तरंग में मोहोदय विद्यमान न होने से सम्यक्त्व-चारित्रशक्ति प्रगट होने से सम्यक्त्वी व व्रती (देशव्रती) होते हैं। तथा कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती, तथापि सूक्ष्म शक्ति के सद्भाव से उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे, मुनि के अब्रह्म कार्य कुछ नहीं, तथापि नवमें गुणस्थानपर्यन्त मैथुन संज्ञा कही है। अहमिन्द्रों के दुःख का कारण व्यक्त नहीं है, तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है।

इस तरह करणानुयोग में जीव के विकारी भावों का और मोहादि कर्मोदय का तारतम्यरूप (डिग्री टू डिग्री) निरूपण है। उसमें 'मेरे विचार से या तेरे विचार से' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता, नहीं किया जाना चाहिए। सम्यग्ज्ञानी वही है, जो वस्तुस्वरूप को परिपूर्ण जानता है, कम नहीं जानता, अधिक नहीं जानता; जैसा वस्तु का यथार्थ सत्यस्वरूप है, वैसा ही जानता है, विपरीततारहित जानता है, संशयरहित जानता है।

करणानुयोगानुसार सर्वार्थसिद्धि के देव, जिनकी कषायों की प्रवृत्ति नगण्य (कुछ भी नहीं) है, देवियों का संग-संपर्क भी नहीं; तथापि असंयमी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ही हैं, जबकि पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य व्यापार व अब्रह्म आदि कषाय काय रूप बहुत प्रवर्तते हैं, तथापि उनके देशसंयम कहा है।

इसप्रकार जब हम सूक्ष्मता से आगमनिष्ठ हों क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन एवं क्षायोपशमिक चारित्ररूप मोक्षमार्गस्थ जीव की पर्याय में विद्यमान निर्मलता व

निर्दोषता/सदोषता का कारण खोजते हैं तो विदित हो जाता है कि निर्मलता, निर्दोषता का कारण तज्जन्य मोह की प्रकृति के सर्वघाति स्पर्द्धकों का अनुदय (उदयाभावी क्षय, स्वमुख से उदय न होना) एवं उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम (उदीरणा न होना ही) है तथा समलता/सदोषता का कारण उस ही मोहप्रकृति के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय ही है। इस क्षायोपशमिक एक ही पर्याय में निर्मलता/अकालुष्य तथा अल्प मलिनता/कालुष्यरूप अविभागी प्रतिच्छेदों की युगपत् विद्यमानता होने से क्षायोपशमिकभाव की मिश्रभाव संज्ञा है।

इस जीव के जो सर्वघाति स्पर्द्धकों के अनुदय से व्यक्त निर्मलता है, उससे निरन्तर यथायोग्य कर्मों का संवर और निर्जरा होती रहती है, तथा जो देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से जो शुभाशुभ राग (कषायांश) उत्पन्न होता है, उससे यथायोग्य कर्मों का आस्रव-बन्ध होता रहता है। तात्पर्य यह है कि जो वीतरागता रूप शुद्धि अंश प्रगट है, उससे संवर-निर्जरा है और जो सरागता रूप अशुद्धि अंश है, उससे आस्रवबन्ध है। इस प्रकार एक ही क्षायोपशमिकभाव अर्थात् मिश्रभाव से आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा घटित होते हैं।

अब यदि कोई मनीषी विद्वान आगमसिद्ध इस हस्तामलकवत् तथ्य को न स्वीकारे और कहे कि यह समग्र क्षायोपशमिकभाव एक शुभोपयोग भाव मात्र जितना ही है, इससे ही पुण्यास्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा युगपत् होते रहते हैं तो यह कथन स्पष्ट रूप से आगम के विरुद्ध होने से सही नहीं ठहराया जा सकता। अथवा कोई ऐसा कहे कि शुभोपयोग, क्षायोपशमिक भाव भी है तो भी सही नहीं है; क्योंकि उसने अशुद्ध्यंश को शुद्ध्यंश मान लिया और मिश्रभाव को समझा ही नहीं; अतः आगमनिष्ठ विद्वानों को निष्पक्षभाव से इस विषय पर विचार करना चाहिए और यदि वे इस प्रकार ऊपरोक्त आगम-चर्चा से सहमत होते हैं तो उनका स्वागत है, यदि सहमत न हो तो कृपया वे अपना समाधान प्रस्तुत करें।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षायोपशमिकभाव न तो सर्वथा औदयिक है, न सर्वथा क्षायिक है, न सर्वथा औपशमिक है, बल्कि सर्वघाति स्पर्द्धकों के अनुदयरूप क्षायोपशम तथा देशघाति स्पर्द्धकों के उदय रूप एक मिश्रभाव है; इसलिए इस मिश्रभाव को मात्र शुभोपयोगरूप मानना - मनवाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं ठहराया जा सकता।

धवलादि ग्रंथों में क्षयोपशम का स्पष्टीकरण -

धवलादि ग्रंथों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व व चारित्र के विषय में जो प.पू. आचार्य वीरसेन, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य जयसेन, आचार्य ब्रह्मदेवसूरि आदि ने प्रश्नोत्तर रूप में स्पष्टीकरण किया है, उसे यहाँ उद्धृत करना अभीष्ट समझता हूँ।

(1) धवला, पु. 14 (19/21)

‘सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदणसम्मत्तुप्पत्तीदा ओदइयं। ओवसमियं पि तं सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावादो।’

अर्थ - सम्यक्त्व के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से सम्यक्त्व (वेदक सम्यक्त्व) की उत्पत्ति होती है; इसलिए तो वह औदयिक है और वह औपशमिक भी है क्योंकि वहाँ सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय नहीं पाया जाता।’ (इसको हम उदय व उपशम के युगपत्पने की विवक्षा से ‘उदयोपशमिकभाव’ भी कह सकते हैं।)

- देखें, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 2, पृष्ठ 184

(2) धवला पुस्तक 8 (22/54) -

‘कोधसयजलणो संजलणकसायस्स तिब्वाणुभागोदयपच्चओ। उवसमसेडिम्हिकोध- चारिमाणुभागोदयादो अणंतगुणहीणेणमाणुभागोदयेण कोधसंजलणस्स बंधाणुवलंभादो।’

अर्थ - संज्वलन क्रोध का बन्ध संज्वलन कषाय के तीव्र अनुभागोदय निमित्तक है, क्योंकि उपशमश्रेणी में क्रोध अनुभागोदय के अन्तिम की अपेक्षा अनन्तगुणे हीन संज्वलनमान के अनुभागोदय में संज्वलन क्रोध कषाय का बन्ध नहीं पाया जाता।’ (इसी प्रकार मान-माया-लोभ में भी समझना।)

फलितार्थ - जघन्य कषायांश स्वप्रकृति का बन्ध करने में असमर्थ है, परन्तु उससे बन्ध सामान्य तो होता है।

(3) धवला, पुस्तक 8 (39/77)

‘सोलसकम्माणि कसायसामण्णपच्चइयाणि, अणुमेत्तकसाए वि संते तेसिं बंधुवलंभादो।’

अर्थ - (दसवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में) सोलह कर्म प्रकृतियाँ (पाँच ज्ञानावरण + पाँच अन्तराय + 4 दर्शनावरण+एक यशःकीर्ति + एक उच्चगोत्र) कषायसामान्य के निमित्त से बंधनेवाले हैं, क्योंकि अणुमात्र कषाय के भी होने पर उनका बन्ध पाया जाता है।

(4) आप्तमीमांसा, कारिका-98

‘अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीतमोहतः।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यात्मोहान्माहिनोऽन्यथा’ ॥98 ॥

अर्थ - मोहसहित अज्ञान से बन्ध होता है, जो अज्ञान मोह से रहित है, वह (फलदान समर्थ) कर्मबन्ध का कर्ता नहीं है और जो अल्पज्ञान मोह से रहित है उससे मोक्ष होता है, परन्तु मोहसहित अल्पज्ञान से कर्मबन्ध ही होता है।

(5) प्रवचनसार गाथा - 45 (तात्पर्यवृत्ति टीका) -

.....औदयिका भावाः बन्धकारणम्’ इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति।

परिहारमाह-औदयिकाभावाः बन्धकारणं भवन्ति, परं किन्तु मोहोदयसहिताः। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति

यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति, तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः।

प्रश्न - ‘औदयिकभाव बन्ध के कारण है’ - यह आगम-वचन वृथा हो जाएगा?

उत्तर - औदयिकभाव, बन्ध के कारण होते हैं, किन्तु मोह के उदय सहित होने पर ही। द्रव्यमोह के उदय होने पर भी यदि (यह जीव) शुद्धात्मभावना के बल से भावमोहरूप से परिणमन नहीं करता है तो बन्ध नहीं होता है। यदि कर्मोदय मात्र से बन्ध होता हो तो संसारी जीवों के सर्वदा ही कर्म का उदय विद्यमान होने के कारण सदा बन्ध ही होता रहता, या होता रहेगा, कभी मोक्ष नहीं होता। (कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा - यह अभिप्राय है)

फलितार्थ - वस्तुतः मोहजनित औदयिकभाव ही बन्ध के कारण हैं, अन्य नहीं। अर्थात् मोहजनित भाव (मिथ्यात्व एवं कषाय-परिणाम) ही औदयिक हैं, उसके बिना सब क्षायिक है। क्योंकि बन्ध के पाँच प्रत्ययों में (मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोग बन्ध हेतवः।) मिथ्यादर्शन, दर्शनमोह के उदय से तथा अविरति-प्रमाद-कषाय - ये तीनों चारित्रमोह के उदय से होनेवाले औदयिकभाव हैं। योग तो सकषाय एवं निःकषाय दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। वह आस्रव-बन्ध का सामान्य प्रत्यय है।

(6) प्रवचनसार गाथा 165

‘तात्पर्यवृत्ति - किं च परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूप धर्म्यध्यानशुक्ल-ध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति

जघन्यरूक्षशक्ति-स्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्य स्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न-भवतीत्यभिप्रायः।'

अर्थ - परम चैतन्यपरिणतिलक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान के बल से, जैसे जघन्य स्निग्ध-शक्ति के समान राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष-शक्ति के समान द्वेष के क्षीण होने पर जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसी प्रकार पुद्गल-परमाणु के भी जघन्य स्निग्ध-रूक्ष-शक्ति का प्रसंग होने पर बन्ध नहीं होता। ऐसा अभिप्राय है।

(7) द्रव्यसंग्रह गाथा 32 -

टीका - 'समस्तकर्मविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरम-चैतन्यविलास-लक्षणज्ञानगुणस्यअभेदनयेऽनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूत-परमात्मनो वा संबन्धिनी या तु निर्मलानुभूति-स्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरगादि-परिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादिकर्म येन भावेन स भावबन्धो-भण्यते।'

अर्थ - समस्त कर्मबन्ध नष्ट करने में समर्थ, अखंड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय परम चैतन्य-विलास जिसका लक्षण है - ऐसे ज्ञानगुण से संबंधित अथवा अभेदनय से अनन्त-ज्ञानादि गुण के आधारभूत परमात्मा के साथ संबंधित जो निर्मल अनुभूति, उससे विरुद्ध मिथ्यात्व-रागादि परिणतिरूप अथवा अशुद्ध चेतनभावस्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है।

फलितार्थ - भावबन्ध अर्थात् जीव का सविकार चैतन्य परिणाम या भावमोह-क्षोभ (मिथ्यात्व + कषायों) रूप परिणाम ही द्रव्यबन्ध (नवीन द्रव्यकर्मों के बन्ध) का कारण होता है और यह दर्शनमोह एवं चारित्रमोह के मन्द-तीव्र उदयानुसार ही होता है। जब दोनों के मात्र देशघातिस्पर्द्धक उदय में रहते हैं, तब श्रद्धा व चारित्र में उतने अंशों में समलता रहती है; तथापि सर्वघातिस्पर्द्धकों के अनुदय से उत्पन्न विमलता का नाश करने में वे समर्थ नहीं होते हैं।

यद्यपि उस समलतारूप जघन्य अंश से स्वप्रकृति का बन्ध नहीं होता, तथापि ज्ञानावरणादि अन्य प्रकृतियों का यथायोग्य बन्ध तो होता ही है तथा जो निर्विकाररूप निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अंश प्रगट होता है, उससे कभी भी बन्ध नहीं होता।

एक विशेष बात जो ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि सम्यग्दर्शन की पर्याय पूर्ण ही होती है, आधी-अधूरी नहीं होती, चाहे अविरत क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो या औपशमिक या क्षायोपशमिक हो, सम्यग्दर्शन तो मिथ्यापने से सर्वधारहित, पूर्ण ही होता है। जबकि ज्ञान-चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त हो जाने पर भी अपूर्ण ही रहते हैं और एकदेश व सर्वदेश चारित्र के ग्रहणपूर्वक अर्थात् संयम के ग्रहणपूर्वक ही चारित्रमोह को प्रक्षीण करते हुए क्रमशः शुद्धि की वृद्धि को प्राप्त करते हुए यथाख्यातचारित्ररूप पूर्णता को उपलब्ध कर वीतरागी छद्मस्थ (बारहवें गुणस्थानवर्ती) हो जाते हैं और 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणन्तरायक्षयाच्च केवलम्।' इस सूत्रानुसार मोह का क्षय होने के उपरान्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय - इन तीनों घातिकर्मों का एक साथ क्षय होते ही वे सर्वज्ञ अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य के धनी अरिहन्त परमात्मा सयोगी जिन हो जाते हैं, फिर बिना बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अघातिया कर्मों का क्षय होते ही अशरीरी सिद्ध परमात्मा बन (ऊर्ध्वगमनस्वभाव से) लोकाग्र में जा विराजते हैं। यह सब शुद्धोपयोग का फल है, शुभोपयोग का नहीं। शुभोपयोग तो मात्र साधक अवस्था में सहचर निमित्त मात्र होता है, जो अशुभोपयोग से बचाये रखता है तथा शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प दशा की प्राप्ति में अनुकूल होता है।

'कारणानुविधायीनि कार्याणि' अर्थात् कारण जैसा कार्य अथवा कारण का अनुसरण करके ही कार्य होता है - इस न्यायानुसार कारण की भिन्नता से कार्य की भिन्नता जिनागम में सर्वत्र मानी गयी है। अब यदि कोई जैनभासी विद्वान निश्चय सम्यग्दर्शन को (औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन को) शुभोपयोग का पर्यायवाची सिद्ध करने लगे-मात्र इस कुतर्क के आधार पर कि 'जब मिथ्यात्व अशुभ भाव है, अतः सम्यग्दर्शन शुभभाव स्वतःसिद्ध हो गया।' साथ ही यह कहे कि चौथे से सातवें गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन सराग होता है और बाद के, ऊपर के गुणस्थानों में वीतराग होता है, तो क्या इसे आगमनिष्ठ, निष्पक्ष, आगम-अध्यात्म मर्मज्ञ, विद्वान ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेंगे? यह तो मात्र उपचार कथन है। यह तो चारित्र गुण की सराग-वीतराग अवस्था का सम्यग्दर्शन पर आरोप कर कथन किया है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो सादि अनन्तकाल एकरूप एकसा वर्तता है। क्या शुभोपयोग के समान सम्यग्दर्शन को भी बन्ध का कारण माना जा सकता है?

वस्तुतः 'सम्यग्दर्शन को शुभोपयोग सिद्ध करना तथा शुभोपयोग को बलात् क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करना, उसे चारित्र्य का सराग मलिनांश नहीं मानना' – यह एक प्रकार से श्रुत का अवर्णवाद ही है। लगता है, आजकल विद्वान, आगमनिष्ठ कम और व्यक्तिनिष्ठ ज्यादा हो गये हैं, इसीलिए निष्पक्ष वस्तुनिष्ठ एवं आगमनिष्ठ चिन्तन-मनन से विमुख हो अपने मनमाने कपोल-कल्पित चिन्तनों को अधिक महत्व दे रहे हैं। निश्चित ही यह एक आत्मघाती कदम है। जिनागम का अवर्णवाद ही नहीं तो और क्या है? कहीं यह ऐतिहासिक भूल न बन जायें!

बीसवीं शताब्दी में जिनागम को ताड़पत्रों से निकालकर, कागज पर छपवाकर, प्रथम शास्त्राकार, फिर पुस्तकाकार रूप में प्रगट किया गया। शताधिक विद्वानों ने अपने अथक श्रम एवं बुद्धिबल से उन संस्कृत-प्राकृत में लिखे चारों अनुयोगों के ग्रन्थों को प्रचलित हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित करा कर, जनसामान्य के पठन-पाठन एवं स्वाध्याय के लिए उपलब्ध करा दिया।

अब लगता है, कोई आगम और अध्यात्म के सुमेल को समझने-समझाने वाला निष्पक्ष, निष्णात विद्वान नहीं रहा। अतः मैंने फिर 'एकला चलो रे' की नीति को मन में धारण कर आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रतिपादित चारों अनुयोगों से संतुलित तत्त्वविवेचना को हृदयंगम कर, इस वर्तमान इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रारंभ हो रही धर्म की/तत्त्वों की मिथ्या प्ररूपणाओं से ऊबकर, आगम-अध्यात्म ग्रन्थों के आधार से उनके प्रमाणों को बिना तोड़े-मरोड़े, ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा लेकर, यह कलम चलाने का साहस-विकल्प संजोया है। जिनवाणी माँ का मंगल आशीर्वाद भी भरपूर मिल रहा है। स्वल्पबुद्धि-प्रमाण सत्यार्थ पदों के किंचित ज्ञानबल से यह विनम्र आलेख है। आशा है कि यह मिथ्या प्ररूपणाओं के निरसन में निमित्त बनेगा। 'खरा सो मेरा' (Right is Mine) यह हमारी नीति होनी चाहिए, 'मेरा सो खरा' (Mine is right)

इस नीति से हमें दूर ही रहना चाहिए। जैनदर्शन, किसी देश-काल-परिस्थिति से या किसी व्यक्ति-विशेष से बँधकर नहीं चलता है। यह तो केवली-श्रुतकेवलियों द्वारा कथित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक वीतराग विज्ञान है, जो

कि शाश्वत वस्तुव्यवस्था को अन्यून, अनतिरिक्त, याथातथ्य, बिना विपरीतता के दर्शानेवाला दर्शन है।

यदि कोई जैनाभासी आगमज्ञ इस भय से कि पुण्य को एवं सरागसंयम को हेय कहने से जनसामान्य पाप को या असंयम को उपादेय मान लेंगे और धर्माचरण से विमुख हो जायेंगे तो उनका ऐसा सोचना यथार्थता के धरातल पर सही नहीं है, वरन् आगम-विरुद्ध है।

क्या जैनदर्शन किसी को पापकर्म करने की छूट देता है? क्या जैनदर्शन, पुण्यास्रव-बन्ध को वीतराग भावरूप संवर-निर्जरा तत्त्व बतलाता है? जैनदर्शन तो पुण्य को सोने की बेड़ी और पाप को लोहे की बेड़ी सिद्ध करता है। दोनों को कर्म कहता है, धर्म नहीं। वस्तुतः व्रत(पुण्य)-अव्रत(पाप), दोनों प्रकार के विकल्परहित तथा जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ भी प्रयोजन नहीं – ऐसा उदासीन, वीतरागस्वरूप, शुद्धोपयोग ही धर्म है, निश्चय मोक्षमार्ग है; परन्तु निचली दशा में (चौथे से छठे-सातवें स्वस्थान अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में) शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है, इसलिए उपचार से पुण्यबन्ध के कारण व्रतादिक सरागसंयमरूप शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है।

परमार्थतः पुण्यबन्धकारक शुभभाव मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं हो सकता, व्यवहार, (उपचार) से ही उसे मोक्ष का परंपरा कारण कहा जा सकता है। वस्तुतः जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके, वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर शुभोपयोगरूप शुभाचरण में ही प्रवर्तन करने की जिनाज्ञा है, क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है। शुभ-अशुभ, इन दोनों को एक अशुद्धोपयोग संज्ञा है।

वस्तुतः जैनदर्शन तो किसी को भी पाप में जाने नहीं देता; पुण्य को धर्म मानने नहीं देता, कहने देता है, करने देता है। पुण्य को धर्म कहना उपचार है, व्यवहार है, परन्तु पुण्य को धर्म मानना मिथ्यात्व है। आज मानो, कल मानो, या अनन्तकाल के बाद मानो, यह परमार्थस्वरूप जाने-माने बिना, स्व-पर के एकत्व के अध्यास व अभ्यासरूप मिथ्यात्व का प्रक्षालन संभव नहीं होगा। इसलिए कहा है-

एक होय त्रण काल मां, परमारथ नो पंथ।

प्रेरे ते परमार्थ ने, ते व्यवहार समंत ॥३६॥

(आत्मसिद्धि, श्रीमद् राजचन्द्र)

प्रवचनसार पर आधारित

‘शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग की सम्यक् चर्चा’

परमपूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित परमागमों में ‘प्रवचनसार’ एक अद्वितीय ज्ञानचक्षु है, जिसमें आगम-अध्यात्म का अद्भुत सुमेल-सन्तुलन दर्शाकर, टीकाकारद्वय प.पू. अमृतचन्द्राचार्य एवं प.पू. जयसेनाचार्य ने द्रव्यानुयोग-चरणानुयोग-करणानुयोग की सुमेल, सुसंगतता स्थापित कर, हमारे चित्त में उठनेवाले प्रश्नों का सहज ही समाधान कर दिया है। इसी से आत्मज्ञान इस ग्रन्थ को ‘दिव्यध्वनिसार’ नाम से भी पुकारते हैं। वस्तुतः इसमें जो ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन-ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन-चरणानुयोगसूचकचूलिका - ये तीन महाअधिकार हैं, वे प्रकारान्तर से क्रमशः देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को दर्शानेवाले अधिकार ही हैं।

प्रथम ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन चार अवान्तर (उप/लघु) अधिकारों में विभक्त है - प्रथम बीस गाथाओं तक शुद्धोपयोग-अधिकार, 21 से 52 गाथाओं तक ज्ञानाधिकार, 53 से 68 गाथाओं तक आनन्द (सुख) अधिकार, तथा 69 से 92 गाथाओं तक शुभपरिणामाधिकार है।

द्वितीय ज्ञेय-तत्त्व-प्रज्ञापन, तीन अवान्तर अधिकारों में विभक्त है - 93 से 126 गाथाओं तक द्रव्य-सामान्य-प्रज्ञापन, 127 से 144 गाथाओं तक द्रव्य-विशेष-प्रज्ञापन और 145 से 200 गाथाओं तक ज्ञान-ज्ञेय-प्रज्ञापन हैं।

तृतीय चरणानुयोगसूचकचूलिका भी तीन लघु अधिकारों में विभक्त है - 201 से 231 गाथाओं तक आचरण-प्रज्ञापन, 232 से 244 गाथाओं तक मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन और 245 से 275 गाथाओं तक शुभोपयोगी श्रमणों एवं श्रमणाभासों का वर्णन है। इसमें अन्तिम पाँच गाथाएँ पंचरत्न की गाथाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अब हम उपरोक्त ग्रन्थाधार से प्रकृत विषय, शुभोपयोग-शुद्धोपयोग की मिश्र अवस्था (जो साधक मोक्षमार्गस्थ जीवों के होती है) का विवेचन देखते हैं। आगमनिष्ठ निष्पक्ष सुविज्ञान, इस पर अपना निर्मल अभिप्राय प्रगट कर, हमें अनुग्रहीत करें कि जिससे जिनागम की रंचमात्र भी अवहेलना न हो, भ्रांति का निवारण हो, हम-आपमें हार्दिक वात्सल्य हो, धर्मियों से गौवत्ससम प्रीति

उत्पन्न हो और ‘जैनं जयतु शासनम्’ का ध्वज, पंचम काल के अन्त तक लहराता रहे। हमारे द्वारा किसी भी प्रकार से देव-शास्त्र-गुरु का अवर्णवाद न हो। इस पवित्र भावना के साथ हम सोचें, विचार करें, कि ग्रन्थराज प्रवचनसार क्या कहता है?

(1) प्रवचनसार गाथा 5

तत्त्वप्रदीपिका ...सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसंप्राप्ति हेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषाय-कलिकलंकविविक्ततया निर्वाण संप्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्रगतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः। एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्नः ॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन-ज्ञान सम्पन्न होकर, जिसमें कषायकण विद्यमान होने से जो जीव को पुण्यबन्ध की प्राप्ति का कारण है - ऐसे सरागचारित्र को क्रम में आ पड़ने पर भी (अर्थात् गुणस्थान-आरोहण के क्रम में बलात् चारित्रमोह के उदय से आ पड़ने पर भी) दूर से ही उल्लंघन करके, जो समस्त कायक्लेशरूपी कलंक से भिन्न होने से निर्वाण-प्राप्ति का कारण है - ऐसे वीतरागचारित्र नामक साम्य को प्राप्त करता हूँ। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की ऐक्यस्वरूप एकाग्रता को मैं प्राप्त करता हूँ। यह इस प्रतिज्ञा का अर्थ है। इस प्रकार तब इन्होंने (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने साक्षात् मोक्षमार्ग को अंगीकार किया।

तात्पर्यवृत्ति - रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इतिरुचिरूपं सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञान-दर्शनस्वभावं, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षणं, भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य तत्पूर्वकं क्रमायातमपि सरागचारित्रं पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थः।

अर्थ - मठ-चैत्यालयादिरूप व्यवहार आश्रम से भिन्न लक्षणवाले, रागादि से भिन्न अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न यह सुखस्वभावी परमात्मा है - ऐसा भेदज्ञान तथा वह सुखस्वभावी आत्मा ही पूर्णतः उपादेय है - ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व; इन लक्षणों वाले ज्ञान-दर्शनस्वभावी भावाश्रमरूप प्रधान आश्रम को प्राप्त कर, उस पूर्वक होने वाला सरागचारित्र क्रमापतित-अवश्यम्भावी होने पर

भी पुण्यबन्ध का कारण है - ऐसा जानकर, उसे छोड़कर, शुद्धात्मा में स्थिर अनुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र का मैं आश्रय लेता हूँ - यह गाथा का भाव है।

प्रवचनसार गाथा 6

तत्त्वप्रदीपिका 'संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणोऽष्टफलत्वा-द्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ॥

अर्थ - दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से, यदि वह (चारित्र), वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है और यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभवक्लेश रूप बन्ध की प्राप्ति होती है; इसलिए मुमुक्षुओं को इष्ट फलवाला होने से वीतरागचारित्र उपादेय है और अनिष्ट फलवाला होने से सरागचारित्र हेय है।

प्रवचनसार गाथा 7

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो ति णिदिट्ठो।

मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥ 7 ॥'

तत्त्वप्रदीपिकास्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावात्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थिततात्म-गुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्त-मोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।

अर्थ - स्वरूप में चरण करना, रमना सो चारित्र है; स्वसमय में प्रवृत्ति करना - ऐसा इसका अर्थ है; यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है, शुद्धचैतन्य का प्रकाश करना - यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है और साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार रूप जीव का परिणाम है।

प्रवचनसार गाथा 8

तात्पर्यवृत्तिधर्मेण परिणताऽऽत्मैव धर्मो मन्तव्य इति। तद्यथा-निजध्रुवशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणाम-रूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते।.....

अर्थ - धर्मपर्याय से परिणत आत्मा ही धर्म मानना चाहिए। वह इस प्रकार

- निजशुद्धात्मपरिणतिरूप निश्चयधर्म तथा पञ्चपरमेष्ठी आदि के प्रति भक्ति के परिणामरूप व्यवहारधर्म कहा गया है।

प्रवचनसार गाथा 11

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोग जुदो।

पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥

अर्थ - धर्म से परिणतस्वरूपवाला आत्मा, यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला हो तो स्वर्ग-सुख को (बन्ध) को प्राप्त करता है।

तत्त्वप्रदीपिका 'अतः शुद्धोपयोग उपादेयः, शुभोपयोगो हेयः।'

तात्पर्यवृत्ति 'चारित्तं खलु धम्मो' इति वचनात्। तच्च चारित्रमहत-संयमोपेक्षासंयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति। तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं, तेन निर्वाणं लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूप-सरागचारित्रेण परिणमति, तदा पूर्वामनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरित-माकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते इति सूत्रार्थः ॥

अर्थ - 'चारित्र ही वास्तविक धर्म है' - ऐसा वचन होने से वही धर्म दूसरे शब्दों में चारित्र कहा जाता है और वह चारित्र (1) अपहृतसंयम-उपेक्षासंयम के भेद से अथवा (2) सराग-वीतराग के भेद से अथवा (3) शुभोपयोग-शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। वहाँ जो शुद्धसंप्रयोग शब्द से कहा जानेवाला शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग में रहने की शक्ति का अभाव होने पर जब (पूर्वोक्त जीव) शुभोपयोगरूप सरागचारित्र से परिणत होता है, तो अनाकुलता लक्षण पारमार्थिकसुख से विपरीत आकुलता पैदा करनेवाला स्वर्गसुख प्राप्त करता है, तथा बाद में परमसमाधिरूप मोक्ष की कारणभूत वीतरागचारित्ररूप सामग्री के सद्भाव में मोक्ष प्राप्त करता है - यह गाथा का भाव है।

प्रवचनसार, गाथा 12

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।

दुःक्खसहस्सोहिं सदा, अभिदुदो भमदि अच्चंतं ॥

अर्थ – अशुभ उदय से आत्मा, कुमनुष्य, तिर्यच अथवा नारकी होकर, हजारों दुःखों से सदा पीडित होता हुआ, संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।

तत्त्वप्रदीपिका – 'ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति।'।

अर्थ – चारित्र के लेशमात्र का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है।

प्रवचनसार, गाथा 13

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं ।

अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥

अर्थ – शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का (केवली और सिद्धों का सुख (1) अतिशय (2) आत्मोत्पन्न (3) विषयातीत(अतीन्द्रिय) (4) अनुपम (5) अनन्त (अविनाशी) और (6) अविच्छिन्न (अटूट) होता है।

प्रवचनसार, गाथा 14

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो ।

समणो समसुहदुक्खो, भणियो सुद्धोवओगो ति ॥

अर्थ – जिन्होंने (निज शुद्ध आत्मादि) पदार्थों को और सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त है, जो वीतराग अर्थात् रागरहित है और जिन्हें सुख-दुःख समान है – ऐसे श्रमण (मुनिवर) को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

प्रवचनसार, गाथा 69

देवदजदिगुरुपुजासु, चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।

उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥

अर्थ – देव-गुरु-यति की पूजा में, दान में एवं सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

तत्त्वप्रदीपिका (हिन्दी अर्थ) – जब यह आत्मा, दुख की साधनभूत ऐसी द्वेष रूप तथा इन्द्रिय-विषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिका का उल्लंघन करके देव-गुरु-यति की पूजा, दान, शील और उपवासादिक के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है; तब वह इन्द्रियसुख की साधनभूत शुभोपयोग की भूमिका में आरूढ़ कहलाता है।

प्रवचनसार, गाथा 70

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा ।

भूदो तावदि कालं, लहदि सुहं इन्द्रियं विविहं ॥

अर्थ – शुभोपयोगयुक्त आत्मा तिर्यच, मनुष्य अथवा देव होकर, उतने समय तक विविध इन्द्रिय-सुख प्राप्त करता है।

प्रवचनसार, गाथा 71

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।

ते देहवेदणद्वा, रमंति विसएसु रम्मेसु ॥

अर्थ – जिनेन्द्रदेव के उपदेश से सिद्ध है कि देवों के भी स्वभाव-सिद्ध सुख नहीं है; वे (पंचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से रम्य विषयों में रमते हैं।

प्रवचनसार, गाथा 72

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।

किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥

अर्थ – मनुष्य, नारकी, तिर्यच और देव, सभी यदि देहोत्पन्न दुःख को अनुभव करते हैं तो जीवों का वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ – ऐसे दो प्रकार का कैसे है? (अर्थात् दोनों में भेद सिद्ध नहीं होता।) तत्त्वप्रदीपिका, टीका (हिन्दी)–

अर्थ – यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदावाले नारकादिक – यह दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से (बिना अन्तर के) पंचेन्द्रियात्मक शरीर-संबन्धी-दुःख का ही अनुभव करते हैं, तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती।

प्रवचनसार, गाथा 77

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो ति पुण्यपावाणं ।

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥

अर्थ – इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है ऐसा जो नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

तत्त्वप्रदीपिका टीका -

यों पूर्वोक्त प्रकार से शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति और सुख-दुःख के द्वैत की भाँति परमार्थ से पुण्य-पाप का द्वैत नहीं टिकता; नहीं रहता; क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मत्व अविशेष अर्थात् समान है। ऐसा होने पर भी जो जीव, उन दोनों में - सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति अहंकारिक अन्तर मानता हुआ, अहमिन्द्र-पदादि सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यन्त निर्भररूप से अवलम्बित है; वह जीव वास्तव में चित्तभूमि के उपरक्त होने से (मलिन, विकृत होने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है - ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यन्त अर्थात् चिरकाल तक शारीरिक दुःख का ही अनुभव करता है।

प्रवचनसार, गाथा 78 -

तत्त्वप्रदीपिका टीका जो जीव शुभ और अशुभभावों के अविशेष दर्शन से (दोनों समान हैं - ऐसी श्रद्धा से) वस्तुस्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है, स्व और पर - ऐसे दो विभागों में रहने वाली, समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों के प्रति राग और द्वेष को निरवशेष रूप से छोड़ता है; वह जीव, एकान्त से उपयोग-विशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होने से जिसने परद्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है, ऐसा वर्तता हुआ, लोहे के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली अग्नि की भाँति प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक दुःखका क्षय करता है। इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है - 'ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ।'

प्रवचनसार, गाथा 79

चत्ता पावारंभं, समुद्रिदो वा सुहम्मि चरियम्मि ।

ण जहदि यदि मोहादि ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥

अर्थ - पापारम्भ को छोड़कर, शुभ-चारित्र्य में उद्यत होने पर भी यदि जीव, मोहादि को नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

तत्त्वप्रदीपिका 'अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ॥

अर्थ - इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कस ली है।

प्रवचनसार, गाथा 80

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।

सो जाणादि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

अर्थ - जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।

तात्पर्यवृत्ति टीका 'अथ चत्तापावारंभं इत्यादि सूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगाऽभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाऽभावे शुद्धात्मलाभो न भवति, तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति - जो जाणदि अरहंतं..... इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवाऽऽगमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्म- भावनाऽभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवाऽऽगमभाषयाधः प्रवृत्तकरणाऽपूर्वकरणा- मुक्ताफल (मोती) और निवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थ-परिणामविशेषबलेन पश्चादाऽऽत्मनि योजयति। तदनन्तरमविकल्पस्वरूपरूपे प्राप्ते यथा पर्यायस्थानीय-मुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाऽभेदननयेन हार एव, तथा पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनाऽऽत्मैवेति भावयतो दर्शनमोहाऽन्धकारः प्रतीयते। इति भावार्थः ॥

अर्थ - अब 'चत्ता पावारंभ' इत्यादि 79वीं गाथा द्वारा कहा था कि शुद्धोपयोग के अभाव में मोहादि का विनाश नहीं होता तथा मोहादि का विनाश नहीं होने पर शुद्धात्मा का लाभ नहीं होता, उसके लिए ही अब उपाय का विचार करते हैं -

'जो अरहंत को जानता है, इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप को पहले कहे हुए अरहंत नामक परमात्मा में जानकर, तदनन्तर निश्चयनय से उसी आगम के सारभूत अध्यात्मभाषा से स्वशुद्धात्मभावना के सन्मुखरूप सविकल्पस्वसंवेदन ज्ञान से, उसीप्रकार आगमभाषा से अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नामक दर्शनमोह के क्षय में समर्थ परिणाम-विशेष के बल से पश्चात् (अपने ज्ञान को) आत्मा में जोड़ता है। तदनन्तर निर्विकल्प स्वरूप प्राप्त होने पर, जैसे अभेदनय से पर्यायस्थानीय अनेक मुक्ताफल (मोती) और गुणस्थानीय धवलता (सफेदी) आदि हार ही है; उसीप्रकार अभेदनय से पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा ही है; इसप्रकार परिणमित होता हुआ (उसका) दर्शनमोहरूप अन्धकार विनाश को प्राप्त होता है - यह भावार्थ है।

प्रवचनसार, गाथा-155

तत्त्वप्रदीपिका

अर्थ - वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण 'उपयोग-विशेष' (अमुक प्रकार का उपयोग ही है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी परिणाम है और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार - ऐसा उभयरूप है। अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध - ऐसे दो भेद किये हैं; उसमें शुद्ध-उपयोग, निरूपराग (निर्विकार) है और अशुद्ध-उपयोग सोपराग (सविकार) है और अशुद्ध-उपयोग, शुभ और अशुभ - ऐसे दो प्रकार का है; क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप - ऐसा दो प्रकार का है। (अर्थात् उपराग = विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप ऐसा दो प्रकार का है।

प्रवचनसार, गाथा-156

तत्त्वप्रदीपिका.....

अर्थ - जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभ रूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ, पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है। ऐसा वह परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से काम करता है, किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है, तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।

प्रवचनसार, गाथा 157

तत्त्वप्रदीपिका.....

अर्थ - 'विशिष्ट क्षयोपशम' दशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ-उपराग का ग्रहण किया होने से जो (उपयोग) परम भट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर - ऐसे अरहंत, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है।'

नोट - 1. यहाँ 'विशिष्ट क्षयोपशमदशा' शब्द का प्रयोग (सराग सम्यक्त्व एवं सराग चारित्र) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए, जो कि गाथा 159 की टीका पर से जाना जा सकता है।

2. समयसार गाथा 74 तथा प्रवचनसार गाथा 255 की तात्पर्यवृत्ति टीका कथित-अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के शुभभाव को शुभोपयोग उपचार से ही कहा जाता है, क्योंकि स्वात्मानुभूतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना (निर्विकल्प

आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग की प्राप्ति बिना) उसका वह शुभभाव निज-ध्रुव-चिदानन्दात्मा को छोड़कर भोगाकांक्षा निदानरूप होने से परम्परया भी निर्वाण का कारण नहीं होता, क्योंकि उसके संवर-निर्जरा-तत्त्व प्रगट नहीं है तथा जो ज्ञानी, सम्यक्दृष्टि का शुभभावरूप शुभोपयोग होता है, वह साक्षात् पुण्यबन्ध का कारण तो होता ही है और परम्परया नियम से निर्वाण का कारण भी होता है, क्योंकि उसके संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट हैं, जिन्हें सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं हुआ, जो शुभास्रव को संवरतत्त्व मानते-मनवाते हैं, जो एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में मिलाते हैं, जो नौ तत्त्वों को उनके आत्मभूत लक्षणों से नहीं पहचानते हैं, उपचार (व्यवहार) कथन को परमार्थ (निश्चय)स्वरूप मानते-मनवाते हैं तो समझना ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों ने सही देशना ग्रहण नहीं की है; इसीलिए उनका वह शुभभाव पलटकर अशुभभावरूप हो जाता है, किन्तु शुद्धता को प्राप्त नहीं होता।

जब देशना ही सही ग्रहण नहीं की हो तो उनके प्रायोग्यलब्धिपूर्वक करणलब्धि के परिणामों की प्राप्ति भी कहाँ से हो सकेगी? कदाचित् प्रायोग्यलब्धि तक भी आ जाये, मुक्ति की युक्तिरूप हित की शिक्षा भी ग्रहण कर ले, उसका विचार करने पर 'ऐसे ही है' - ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति भी हो जाये, अथवा अन्यथा विचार करने लग जाय और उस शिक्षा का/उपदेश का निर्धार (निर्णय) न करे तो प्रतीति नहीं भी हो - ऐसा नियम है। इसका उद्यम तो तत्त्वविचार करना मात्र ही है।

पाँचवीं करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व होता ही है - ऐसा नियम है। जिसके प्रथम चार लब्धियाँ हुई हो और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो, उस जीव के ही करणलब्धि होती है। इसका बुद्धिपूर्वक उद्यम तो इतना ही होता है कि उस तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल विशुद्धतर होते जाते हैं। इन परिणामों का तारतम्य जैसा सर्वज्ञदेव ने जाना है, उसका वर्णन करणानुयोग में है। त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण - ये तीन भेद कहे हैं। (देखिए, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६२)

प्रवचनसार, गाथा 158

तात्पर्यवृत्ति

अर्थ – ‘विशिष्ट उदयदशा में रहने वाले दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से जो (उपयोग) परम भट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहंत, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।’

प्रवचनसार, गाथा 159

तात्पर्यवृत्ति

अर्थ – जो यह परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदयदशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं; इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ, मैं परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ – ऐसा जो अशुद्धोपयोग, उससे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है – ऐसा होता हुआ उपयोगात्मा द्वारा आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।

प्रवचनसार गाथा 180

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।

असुहो मोहपदेसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥

अर्थ – परिणाम से बन्ध है, (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है, उनमें से मोह और द्वेष अशुभ है और राग शुभ अथवा अशुभ (दोनों प्रकार का) होता है।

तत्त्वप्रदीपिका

अर्थ – प्रथम तो द्रव्यबन्ध, विशिष्ट-परिणाम से होता है, परिणाम की विशिष्टता राग-द्वेष-मोहमयपने के कारण है। वह शुभ और अशुभपने के कारण द्वैत का अनुसरण करता है। (अर्थात् दो प्रकार का है) उसमें से मोह-द्वेषमयपने से अशुभपना होता है और रागमयपने से शुभपना तथा अशुभपना दोनों होता है, क्योंकि राग, विशुद्धियुक्त तथा संक्लेशयुक्त होने से दो प्रकार का होता है।

प्रवचनसार, गाथा 181

सुहपरिणामो पुष्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेषु।

परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥

अर्थ – पर के प्रति शुभपरिणाम पुण्य है और अशुभपरिणाम पाप है – ऐसा कहा है तथा जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है – ऐसा परिणाम समय से दुःखक्षय का कारण कहा है।

तत्त्वप्रदीपिका

अर्थ – प्रथम तो परिणाम तो दो प्रकार का है – परद्रव्यप्रवृत्त (परद्रव्य के प्रति प्रवर्तमान) और स्वद्रव्यप्रवृत्त; इनमें से परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम (पर के निमित्त से विकारी) होने से विशिष्ट परिणाम है और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त न होने से अविशिष्ट परिणाम है; उसमें विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं – शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम; उनमें पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभपरिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है, इसलिए उसके भेद नहीं हैं। वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल संसार-दुःख के हेतुभूत कर्म-पुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार-दुःख का हेतुभूत कर्म-पुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।

तात्पर्यवृत्ति ‘नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिकीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव। तत्राऽशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युतरं ददाति – वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं, शुभाऽशुभशुद्धद्रव्याऽवलम्बनमुपयोगलक्षणं चेति; तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकात्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासम्भव सर्वत्र ज्ञातव्यम्।’

अर्थ – तथा नय की विवक्षा में मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानों में अशुद्धनिश्चयनय होता ही है। वहाँ अशुद्धनिश्चयनय के बीच शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है? ऐसा शिष्य द्वारा पूर्वपक्ष (प्रश्न) किये जाने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं – प्रथम तो वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का लक्षण है और शुभ-अशुभ अथवा शुद्धद्रव्य का अवलम्बन उपयोग का लक्षण है; इस प्रकार अशुद्धनिश्चय के बीच में भी शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से, शुद्ध का साधक होने से शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है – ऐसा नय और उपयोग का

लक्षण यथासम्भव सब जगह जानना चाहिए।...’

प्रवचनसार, गाथा 181-182

.... ‘अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः

..... अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावऽऽरणरहितत्वेनाऽऽखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः.... अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः स च अनाद्यनन्तत्वेना विनश्वरः। तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मात्। ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥

.. एवं द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरगादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति ... ॥

अर्थ - यहाँ जो रागादि विकल्पों की उपाधिरहित समाधिलक्षण शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण कहा गया हैयह शुद्धोपयोग एकदेश आवरणरहित होने से क्षायोपशमिक खण्डज्ञान की प्रगटतारूप है और वह पारिणामिकभाव, सम्पूर्ण आवरणों से रहित होने के कारण अखण्डज्ञान की प्रगटतारूप है, यह सादि-सान्त होने से नश्वर है और वह अनादि-अनन्त होने से अविनश्वर है। इससे ही ज्ञात होता है कि शुद्धपारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यानभावनारूप नहीं है। वह ध्यानभावनारूप क्यों नहीं है? ध्यान के विनाशशील होने से वह ध्यानभावनारूप नहीं है। इसप्रकार द्रव्य बन्ध का कारण होने से मिथ्यात्व-रागादि विकल्परूप भावबन्ध ही निश्चय से बन्ध है।

प्रवचनसार, गाथा - 183

तात्पर्यवृत्ति ‘.....ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदन ज्ञानी जीवस्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति।.....’

अर्थ - इससे यह निश्चित हुआ कि स्व-पर-भेदविज्ञान के बल से स्वसंवेदनज्ञानी जीव स्व-द्रव्य में रति-प्रवृत्ति और परद्रव्य में निवृत्ति करता है।)

प्रवचनसार, गाथा - 216

तत्त्वप्रदीपिका टीका

‘अशुद्धोपयोग हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्; तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा।

अर्थ - अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है और वही हिंसा है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है।

प्रवचनसार, गाथा 217

तत्त्वप्रदीपिका ‘अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेद, परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः।

अर्थ - अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है, परप्राणों का व्यपरोप (विच्छेद/घात) वह बहिरंग छेद है।)

प्रवचनसार, गाथा 245

समणा सुद्धुवजुता सुहोवजुता य ह्येति समयम्हि।

तेसु वि सुद्धुवजुता अणासवा सासवा सेसा ॥

अर्थ - शास्त्र में कहा है कि श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं तथा शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं; उनमें भी शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, शेष सास्रव हैं अर्थात् शुभोपयोगी आस्रवसहित हैं।

तत्त्वप्रदीपिका

अर्थ - जो वास्तव में श्रामण्य-परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय-कण के जीवित (विद्यमान) होने से समस्त परद्रव्यों से निवृत्तिरूप से प्रवर्तमान, ऐसी जो सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभाव-आत्मतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धोपयोग-भूमिका, उसमें आरोहण करने को असमर्थ हैं; वे (शुभोपयोगी) जीव, जो कि शुद्धोपयोग-भूमिका के उपकंठ निवास कर रहे हैं और कषाय ने जिनकी शक्ति कुंठित की है तथा जो अत्यंत उत्कंठित (आतुर) मनवाले हैं, वे श्रमण हैं या नहीं - यह यहाँ कहा जा रहा है।

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।

पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुतो व सग्गसुहं।’

इसप्रकार (भगवान कुन्दकुन्द आचार्य ने इसी ग्रन्थ की 11वीं गाथा में) स्वयं ही निरूपण किया है, इसलिए शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय है; अतः शुभोपयोगी भी, उनके धर्म का सद्भाव होने से श्रमण हैं, किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के साथ/समान कोटि के नहीं हैं, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों को निरस्त किया होने से निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषाय-

कण नष्ट न किया होने से सास्रव ही हैं और ऐसा होने से ही शुद्धोपयोगी के साथ इनको नहीं लिया जाता मात्र पीछे से अर्थात् गौणरूप से लिया जाता है।

तात्पर्यवृत्ति ... तथा शुद्धोपयोगीनां मुख्यत्वं शुभोपयोगीनां तु चकारसमुच्चय-
व्याख्यानेन गौणत्वम् । कस्माद् गौणत्वं जातमिति चेत् । तेष्वपि मध्ये
शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवाः, शेषाः सास्रवा इति यतः कारणात् । तद्यथा -
निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तऽशुभाशुभसंकल्प-विकल्परहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो
निरास्रवा एव, शेषाः शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि
पुण्यास्रवसहिता इति भावः ।।

अर्थ - जैसे, निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी सिद्धजीव ही जीव कहे जाते हैं और व्यवहार से चतुर्गतिपरिणत अशुद्धजीव, जीव हैं); उसी प्रकार शुद्धोपयोगियों की मुख्यता तथा चकार द्वारा समुच्चय व्याख्यान होने से शुभोपयोगियों की गौणता है। गौणता कैसे उत्पन्न हुई? - ऐसा यदि प्रश्न हो तो कहते हैं - उनमें भी शुद्धोपयोगयुक्त अनास्रव है, शेष सास्रव हैं; इस कारण उनकी गौणता है। वह इसप्रकार - अपने शुद्धात्मा के बल से, संपूर्ण शुभ-अशुभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्परहित होने के कारण शुद्धोपयोगी निरास्रव ही हैं, शेष शुभोपयोगी मिथ्यात्व, विषय-कषायरूप अशुभास्रव का निरोध होने पर भी पुण्यास्रवसहित हैं - ऐसा भाव है।

प्रवचनसार, गाथा 248

तात्पर्यवृत्ति '..... ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति ।

परिहारमाह - युक्तमुक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते, ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति, तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते, तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात्? बहुपदस्य प्रधानत्वादाप्रवननिम्बवनवदिति ।।

अर्थ - यहाँ कोई शंका करता है कि शुभोपयोगियों के भी, किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना दिखायी देती है, शुद्धोपयोगियों के भी किसी समय शुभोपयोग भावना देखी जाती है, श्रावकों के भी सामायिकादि के समय शुद्ध भावना देखी

जाती है, तब उनका विशेष भेद कैसे ज्ञात होता है?

आचार्य उसका समाधान करते हुए कहते हैं - आपका कहना उचित है, परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोगरूप आचरण करते हैं, वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना करते हैं, तो भी शुभोपयोगी ही कहलाते हैं तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोगरूप वर्तते हैं, तो भी शुद्धोपयोगी ही हैं। (इन दोनों प्रकार के उपयोगों रूप प्रवृत्ति होने पर भी) ऐसा क्यों है? बहुपद अर्थात् बहुलता की प्रधानता होने के कारण, आम्रवन-नीमवन आदि के समान, दोनों रूप प्रवृत्ति होने पर भी, अधिकता की अपेक्षा उनमें अन्तर है।

प्रवचनसार, गाथा 251

जोण्हाणं गिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।

अणुकंपयोवयारं, कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।।

अर्थ - यद्यपि अल्प लेप होता है, तथापि साकार-अनाकार चर्यायुक्त (अर्थात् ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान वृत्तिवाले) अथवा सागार - अनगार चर्यावाले श्रावक व मुनियों के आचरण से युक्त जैनों का अनुकम्पा से निरपेक्षतया उपकार करो।

प्रवचनसार, गाथा 255

रागो पसत्थभूदो, वत्थुविसेसेण फलदि विवरिदं ।

णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।।

अर्थ - जैसे, इस जगत में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्य-काल में विपरीतरूप से फलते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग, वस्तुभेद (पात्रभेद) से विपरीतरूप से फलता है।

तत्त्वप्रदीपिका अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति) यथैकेषामपि बीजानां-भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं, तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यवैविशेषस्या-वश्यंभावित्वात् ।।

अर्थ - (अब ऐसा सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोग में कारण की विपरीतता से फल की विरीतता होती है।) जैसे, बीज ज्यों के त्यों एक से होने पर भी भूमि की विपरीतता से फल निष्पत्ति की विपरीतता होती है (अर्थात् अच्छी भूमि में उसी

बीज का अच्छा अन्न (फल) उत्पन्न होता है और खराब भूमि में वही खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता।) उसी प्रकार प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग ज्यों का त्यों होने पर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यंभावी (अनिवार्य) है।

तात्पर्यवृत्ति अयमत्रार्थः— यथा जघन्मध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति, तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्न फलं ददाति। तेन किं सिद्धम्? यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकशुभोपयोगो भवति, तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्ध भवति, परंपरया निर्वाणं च, नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव ॥

अर्थ— जैसे जघन्य-मध्यम, उत्कृष्ट भूमि भेद से, वे ही बीज भिन्न-भिन्न फल देते हैं; उसी प्रकार बीज स्थानीय वही शुभोपयोग भूमिस्थानीय पात्रभूतवस्तुविशेष से भिन्न-भिन्न फल देता है। उससे क्या सिद्ध हुआ? जब पूर्वगाथा कथित न्याय से सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परंपरया मोक्ष होता है। यदि वह वैसा (सम्यक्त्व के साथ) नहीं होता है तो मात्र पुण्यबन्ध ही होता है।

प्रवचनसार, गाथा 256

तात्पर्यवृत्ति टीका 'अथकारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवतीति तमेवार्थं दृढयति। तथाहि - ये केचन निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति, ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादयः। ते छद्मैस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेश-शून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते। तत्पात्रसंसर्गेण यद्ब्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति तदपि शुद्धात्मभावानुकूलं न भवति, ततः कारणान्मोक्षं न लभते। सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः॥

अर्थ— अब, कारण की विपरीतता से फल भी विपरीत होता है - ऐसे उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं। वह इस प्रकार - जो कोई निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, पुण्य को ही मुक्ति का कारण कहते हैं, यहाँ वे छद्मस्थ शब्द से ग्रहण किये गये हैं, गणधरदेवादि नहीं।

शुद्धात्मा के उपदेश से रहित, उन छद्मस्थ अज्ञानियों से जो दीक्षित हैं, वे

छद्मस्थ-विहित (व्यवस्थापित) वस्तुएँ कहलाती हैं। उन पात्रों के संसर्ग से जो ब्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि करते हैं, वे भी शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल नहीं हैं। उस कारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं। सुदेव, सुमनुष्यत्व आदि प्राप्त करते हैं - ऐसा अर्थ है।'

आगे, और भी कारणविपरीतता से फल-विपरीतता दर्शाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि 'सम्यक्त्व और ब्रतरहित पात्रों में भक्ति (श्रद्धा) रखनेवाले जीव, कुदेव, कुमनुष्य होते हैं तथा वे ऐसी श्रद्धा भी करवाते हैं कि विपरीतता के कारण अविपरीत-फल की सिद्धि नहीं होती। अविपरीतफल की प्राप्ति तो अविपरीतकारण से ही होती है और वह अविपरीतकारणता तो एकमात्र शुद्धात्म-ज्ञानी, विषय-कषाय से अति दूर, शास्त्र-मर्मज्ञ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐक्यतास्वरूप मोक्षमार्ग पर आरूढ़ सर्वात्म-परिग्रह से रहित, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रावन्त मुनिराज भगवन्त में ही होती है, उनकी ही देशना, देशना होती है इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उपरोक्त गाथाओं में तथा उनकी टीकाओं में आचार्यद्वय-श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव एवं श्रीमद् जयसेनाचार्यदेव ने केवली-श्रुतकेवलियों के रचनानुसार परम्परा से प्राप्त जिनागम को (सच्चे मुक्तिमार्ग को) लिपिबद्ध कर, सदियों-सदियों के लिए अक्षुण्ण कर दिया है; इसीलिए मंगलाचरण में भगवान महावीरस्वामी एवं उनके प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी के तत्काल बाद तीसरे स्थान पर भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का और मंगलमय जैनधर्म का स्मरण किया गया है। ऐसे उत्तम पात्र तपोधन मुनिराज का प्रकारान्तर से 'उपयोगापेक्षा' लक्षण, प्रवचनसार, गाथा 260 में कहा है -

प्रवचनसार, गाथा 260

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।

गित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥260 ॥

अर्थ— जो अशुभोपयोग रहित वर्तते हुए शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगयुक्त होते हैं, वे श्रमण लोगों को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिवान जीव प्रशस्त पुण्य को प्राप्त करता है।

तत्त्वप्रदीपिका टीका 'यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागो-च्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकल-कषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्तः प्रशस्तरागविपाकात्क-दाचिच्छुभोपयुक्तः, स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं

निस्तारयन्ति; तद्भक्तिभाव-प्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति, परे च पुण्यभाजः ॥

अर्थ - यथोक्त लक्षणवाले श्रमण ही मोह (मिथ्यात्व), द्वेष और अप्रशस्तराग के उच्छेद से अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए, समस्त कषायोदय के विच्छेद से कदाचित् शुद्धोपयुक्त और प्रशस्त राग के विपाक से कदाचित् शुभोपयोगयुक्त होते हैं; वे स्वयं मोक्षायतन (मोक्ष के स्थान) होने से लोक को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिभाव से जिनके प्रशस्तभाव वर्तता है, ऐसे पर (उत्कृष्ट) जीव पुण्य के भागी (पुण्यशाली) होते हैं।

तात्पर्यवृत्ति अथ तेषामेव पात्रभूततपोधननां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति, शुद्धोपयोग-शुभोपयोगपरिणत पुरुषाः पात्रं भवन्तीति। तद्यथा - निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाऽशुभोपयोग-द्वयरहितकाले कदाचिद्वीतराग-चारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः कदाचित्पुनर्मोह-द्वेषाऽशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षण-शुभोपयोगयुक्तः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते।'

अर्थ - अब उन्हीं पात्रभूत मुनिराजों का दूसरे रूप से लक्षण स्पष्ट करते हैं - शुद्धोपयोग एवं शुभोपयोगपरिणत पुरुष पात्र हैं। वह इसप्रकार - विकल्परहित समाधिस्वरूप स्थिरता के बल से, कभी शुभ-अशुभ दोनों उपयोगों से रहित होते हुए वीतरागचारित्र-लक्षण शुद्धोपयोग से सहित तथा कभी मोह (मिथ्यात्व) द्वेष और अशुभराग से रहित होते हुए सरागचारित्र-लक्षण शुभोपयोग से सहित होते हुए भव्य जीवों को तारते हैं और उनके प्रति भक्तिवाले भव्यवर पुण्डरीक (भव्यों में श्रेष्ठ) भक्तजन, प्रशस्त फलभूत स्वर्ग प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं - ऐसा भाव है।

वस्तुतः उक्त दोनों टीकाओं में 'क्षायोपशमिकचारित्र' क्या चीज है? इसका अत्यन्त स्पष्टरूप से विवेचन किया गया है। छठवें-सातवें गुणस्थानों में झूलनेवाले मुनिराजों के अशुभोपयोग तो होता ही नहीं। शेष दो शुभ व शुद्ध उपयोगों में से एक काल में (एक-एक अन्तर्मुहूर्त में) कोई एक उपयोग ही होता है। शुभोपयोग वस्तुतः प्रशस्त कषाय/राग के विपाक का फल होने से सास्रव और शुद्धोपयोग निरास्रवभाव है।

सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदय से शुद्धता/शुद्धपरिणतिरूप अंश तथा देशघाति

स्पर्द्धकों के उदय से अशुद्धता/अशुद्धपरिणतिरूप अंश - ऐसा एक मिश्रभावरूप चारित्र का परिणाम (पर्याय) होता है - यह बात हस्तामलकवत् स्पष्ट है। इसीप्रकार शुद्धतारूप अंश से संवर-निर्जरा तथा अशुद्धतारूप अंश से आस्रव-बन्ध होता है।

प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाएँ, जो कि पञ्चरत्न की गाथाएँ कहलाती हैं, वे भी दृष्टव्य हैं; जिनमें संसारतत्त्व (अज्ञानी श्रमणाभासरूप द्रव्यलिंगी), मोक्षतत्त्व (ज्ञानी प्रशान्तात्मा भावलिंगी श्रमण) एवं मोक्षोपायरूप साधनतत्त्व (शुद्धोपयोगी मुनिराज) का वर्णन कर, शिष्यजनों को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए शास्त्र समाप्त किया है।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस देश में परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस पंचमकाल में तीर्थकरतुल्य काम किया है; उनके एक हजार वर्ष बाद अर्थात् आज से एक हजार वर्ष पूर्व प.पू. अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उनके गणधरतुल्य काम किया है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की वस्तुनिष्ठ कथन-पद्धति अलौकिक है। मूल गाथासूत्रों का गम्भीर रहस्य, टीका द्वारा सरल, सुगम एवं स्पष्ट किया है, अकेला अमृत बहाया है। राग-कषाय का स्वाद, एकान्त दुःखरूप तथा स्वरूप-संवेदन से प्राप्त ज्ञान का स्वाद एकान्त सुखरूप दर्शाकर, निकट भव्य जीवों को इस निकृष्ट कलिकाल में दिव्यध्वनिस्वरूप उत्कृष्ट वचनामृत का पान कराया है। उनके द्वारा लिखे गये तीन परमागमों - समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय की टीकाओं में वस्तुनिष्ठ विज्ञानरूप अध्यात्म एवं अज्ञानी-ज्ञानी की मान्यतारूप भेद-कथन ही मुख्य रहा है। जबकि उनके दो/तीन सौ वर्ष बाद आज से आठ/नौ सौ वर्ष पूर्व प.पू. जयसेनाचार्यदेव ने उन्हीं की टीकाओं का अनुसरण करते हुए उक्त तीन ग्रन्थों की ही सरल, सुबोध संस्कृत भाषा में आगम-अध्यात्म का सुमेल दर्शानेवाली गुणस्थानों की विवेचना सहित मार्मिक टीकाएँ लिखी हैं। कविवर वृन्दावनजी ने तो यहाँ तक कहा है कि -

‘शुद्धबुद्धिवृद्धिदा, प्रसिद्धि-रिद्धि सिद्धिदा।

हुए हैं, न होहिंगे, मुनिंद कुन्दकुन्द से।’

वस्तुतः प.पू. श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के उत्तरवर्ती सभी आचार्य भगवन्तों ने उनका ही अनुसरण करते हुए अनेक विभिन्न ग्रन्थों की रचना की है, उनमें कहीं

भी पूर्वापर-विरोध नहीं दिखायी देता है; किन्तु आज कतिपय जैनाभास/श्रमणाभास उन पूर्वाचार्यों के हार्द को - मर्म को सही रूप से हृदयंगम न कर सकने के कारण पूर्वापर-विरोध-सहित रचनाएँ कर रहे हैं, उपदेश दे रहे हैं - 'अहो! हन्त! महाश्चर्यं, जले वह्नि-समुद्भवः।'

आज से ढाई सौ वर्ष पूर्व आचार्यकल्प पं.टोडरमलजी ने लगता है इस स्थिति को भाँप लिया था कि भविष्य में धार्मिक, सामाजिक स्थिति क्या होगी ? और इसलिए उन्होंने अपनी सातिशय प्रज्ञा के बल से सदगृहस्थ होते हुए भी लगभग उपलब्ध सर्व आगम अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय-चिन्तन-मनन के बल से उसके दोहन से प्राप्त जिनागम के सार को हृदयंगम कर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' एक ऐसी कालजयी रचना कर दी कि जिसके आधार से इस पंचम काल के अन्त तक सच्चे मुक्ति के मार्ग की बिरल किन्तु अविच्छिन्न धारा बहती रहेगी।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, चाहे गृहस्थ हो या मुनि हो, उन सब की वाणी पूर्वापर-विरोध-रहित ही होती है, क्योंकि वह स्वानुभूति-प्रसूत होती है, जिसे यह बात मान्य नहीं है, समझो उसकी होनहार अभी अच्छी नहीं है। सम्यग्ज्ञानियों का सदैव एकमत होता है, कदाचित् केवली-कथित करणानुयोग के कोई एकाध कथन में मत-भिन्नता हो सकती है, किन्तु अभिप्राय में रंचमात्र भूल नहीं होती। जबकि एक मिथ्याज्ञानी के स्वयं के कथनों में पूर्वापर-विरोध सहित अत्यन्त मत-भिन्नता पायी जाती है।

अतः श्रोता को वक्ता की पहिचान करना चाहिए, अन्यथा जैसे अनादि काल से धर्म के नाम पर यह जीव ठगाता आया है, वैसे ही इस दुर्लभ नरपर्याय को यँ ही तथाकथित धर्म के नाम पर खोकर चला जाएगा। तदर्थ स्वयं चारों अनुयोगों का स्वाध्याय आगमनिष्ठ होकर करना चाहिए, व्यक्तिनिष्ठ होकर नहीं !

वस्तुतः आत्मज्ञानी को ही सच्चा वक्तापना शोभता है, क्योंकि अध्यात्म रसमय सच्चे जिनधर्म का स्वरूप वही खोल सकता है। बिना स्वरूपानुभवरूप निश्चय सम्यग्दर्शन के कोई भी जिनधर्म का मर्मज्ञ-तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. १६ पर) 'सच्चा वक्ता कौन और किसके मुख से शास्त्र सुनना' - इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है,

जो निम्न प्रकार से है -

'चौदह विद्याओं में भी अध्यात्म-विद्या प्रधान कही है; इसलिए जो अध्यात्म रस का रसिया वक्ता है, उसे जिनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना। पुनश्च, जो बुद्धि-ऋद्धि के धारक हैं तथा अवधि-मनःपर्यय या केवलज्ञान के धनी वक्ता हैं, उन्हें महान वक्ता जानना। ऐसे वक्ताओं के विशेष गुण जानना। सो इन विशेष गुणों के धारी वक्ता का संयोग मिले तो बहुत भला ही है और न मिले तो श्रद्धानादि गुणों के धारी वक्ताओं के मुख से ही शास्त्र सुनना। इस प्रकार के गुणों के धारक मुनि अथवा श्रावक, उनके मुख से तो शास्त्र सुनना योग्य है और पद्धतिबुद्धि से अथवा शास्त्र सुनने के लोभ से श्रद्धानादि गुणरहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना उचित नहीं है। कहा भी है -

तं जिणआणपरेण य धम्मो सोयव्व सुगुरुपासम्मि ।

अह उचियो सद्धाओ तस्सुवएसस्स कहगाओ ।

अर्थ - जो जिन आज्ञा मानने में सावधान है, उसे निर्ग्रन्थ सुगुरु ही के निकट धर्म सुनना योग्य है, अथवा उन सुगुरु ही के उपदेश को कहनेवाला उचित श्रद्धानी श्रावक उससे धर्म सुनना योग्य है। ऐसा जो वक्ता धर्मबुद्धि से उपदेशदाता हो, वही अपना तथा अन्य जीवों का भला करता है और जो कषाय-बुद्धि से उपदेश देता है, वह अपना तथा अन्य जीवों को बुरा करता है - सो जानना। प्रवचनसार, गाथा 239

तत्त्वप्रदीपिका उत्थानिका - अथाऽऽत्मज्ञानशून्यस्य सर्वाऽऽगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति -'

अर्थ - अब ऐसा उपदेश करते हैं कि आत्मज्ञान-शून्य के सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रवचनसार, गाथा 238

तत्त्वप्रदीपिका उत्थानिका - 'अथ परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्पसमाधि-लक्षणमाऽऽत्मज्ञानं, निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति- जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्सकोडिहिं । तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि

उस्सासमेतेण ।'..... ततो-ज्ञायते परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वरनां भेदरत्नत्रयरूपाणां सद्भावेऽप्यभेदरत्न-त्रयरूपस्य स्वसंवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति' ॥

अर्थ - अब परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान - संयतत्वरूपभेदरत्नत्रय का युगपत्पना होने पर भी जो अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प समाधिस्वरूप लीनता लक्षण आत्मज्ञान है, वही निश्चय से मुक्ति का कारण है - ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ - 'जो कर्म, अज्ञानी (बाल-तपादि से) लक्ष-कोटि भवों में नष्ट करता है, वे कर्म तीन प्रकार से गुप्त ज्ञानी (त्रिगुप्तिधारक साधुपरमेष्ठी) उच्छ्वास-मात्र में नष्ट कर देता है ।'.... इससे ज्ञात होता है कि परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वरूप भेदरत्नत्रय का सद्भाव होने पर भी, अभेद रत्नत्रयरूप स्वसंवेदन-ज्ञान की ही प्रधानता है ।

वस्तुतः आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता, पदार्थों के निश्चय बिना संशयरहित श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तथा परकर्तृत्व-अभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्व-अभिलाषाजनित अस्थिरता के कारण एकाग्रतारूप धर्म्यध्यान भी नहीं होता और एकाग्रता के बिना निज आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप शुद्धात्म-प्रवृत्ति नहीं होती और शुद्धात्म-प्रवृत्ति न होने से सच्चा मुनिपना/सच्चा मोक्षमार्ग भी नहीं होता । इसलिए 'आगमचेष्टा तदो चेष्टा' (प्रवचनसार गाथा 232) अर्थात् शब्द-ब्रह्मरूप परमागम में प्रवीणता प्राप्त करना, प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु का परम कर्तव्य है ।

आगम की पर्युपासना से रहित इस जीव को आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव न होने से 'यह जो अमूर्तिक आत्मा है, सो मैं हूँ और जो एकक्षेत्रावगाही शरीर है वह पर है, इसी प्रकार से यह जो उपयोग (ज्ञानानुभव) है, सो मैं हूँ और ये उपयोग-मिश्रित मोह-राग-द्वेष आदि भाव हैं, सो पर हैं ।'

इसप्रकार स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता और ऐसा स्वानुभवरूपअभेदज्ञान न होने से 'मैं एक अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन कारणपरमात्मा हूँ, शाश्वत चैतन्यद्रव्य हूँ - ऐसा श्रद्धान उदित नहीं होता ।

हमारे मुनिराज भगवन्त 'आगम चक्खू साहू' (प्रवचनसार, गाथा 234)

अर्थात् साधु आगमचक्षु होते हैं, उस आगमरूप चक्षु से वे स्व-पर का विभाग करके महामोह सुभट को जीतकर, निज-ध्रुव-चिदानन्दात्मा को पाकर सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं, ज्ञेयनिष्ठ नहीं होते । उस आगमरूप चक्षु से उन्हें सबकुछ दिखायी देता है; इसीलिए आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक संयतत्व की युगपतता को ही साक्षात् मोक्षमार्ग-पना होने का नियम है । आचार्य जयसेन ने इसी बात को स्पष्ट किया है -

प्रवचनसार, गाथा 236

तात्पर्यवृत्ति 'यदि निर्दोषनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति, तर्हि परमागमबलेन विशदैकज्ञानमात्मानं जानन्नपि सम्यग्दृष्टिर्न भवति, ज्ञानी च न भवति, तद्द्वयाऽभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयाऽभिलाषषड्जीववध-व्यावृत्तोऽपि संयतो न भवति । ततः स्थितमेतत् - परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व-त्रयमेव मुक्तिकारणमिति ॥

अर्थ - यदि दोषरहित अपना परमात्मा ही उपादेय है - ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है तो परमागम के बल से स्पष्ट एक ज्ञानरूप आत्मा को जानता हुआ भी सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञानी भी नहीं है । इन दोनों का अभाव होने पर, पाँचों इन्द्रियों के विषयों की इच्छा और छह काय के जीवघात से व्यावृत्त-निवृत्त होने पर भी संयत नहीं है; इससे निश्चित हुआ कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना - इन तीनों का युगपतपना ही मुक्ति का कारण है ।

सम्यक् पात्र-अपात्र-कुपात्र चर्चा

जब चित्त में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मोक्ष व मोक्षमार्ग के आराधक कौन हैं ? पात्र जीव कौन हैं? अपात्र कौन हैं ? कुपात्र कौन हैं ? तो इस सम्बन्ध में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है -

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 171

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥

अर्थ - मोक्ष के कारणरूप गुणों का अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप गुणों का संयोग जिसमें हो, ऐसा पात्र अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती श्रावक और सकलव्रती-महाव्रती मुनिराज - इन तीन भेदरूप कहा है ।

भावार्थ - जो दान लेनेवाले पुरुष, रत्नत्रय-युक्त हों, वे पात्र कहलाते हैं; उनके तीन भेद हैं - उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र । इनमें सकलचारित्र के धारण करनेवाले सम्यक्त्व-युक्त मुनि, उत्तम पात्र हैं, देशचारित्र-युक्त त्रसजीवों की हिंसा के त्यागी श्रावक मध्यमपात्र हैं और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं ।

प. पू. आ. कुन्दकुन्ददेव ने भी यही बात कही है -

बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा), गाथा 17-18

उत्तमपत्तं भणियं, समत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो ति विण्णयो ॥
णिदिट्ठो जिणसमये, अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मतरयणरहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन से सहित साधु को उत्तम पात्र कहा है; सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र समझना चाहिए तथा जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित हैं, वे अपात्र हैं; अतः पात्र की भली-भाँति परीक्षा करनी चाहिए ।

इसप्रकार जैनधर्म में सम्यग्दर्शन के बिना कोई सुपात्र नहीं होता । सम्यक्त्व, शील और व्रत से रहित जीव, अपात्र कहा गया है । जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, वह कुपात्र है । महाव्रतधारी साधु भी

यदि मिथ्यादृष्टि है तो वह कुपात्र है, पात्र नहीं । वास्तव में पात्रता का आधार सम्यक्त्व ही है । सम्यग्दर्शन रत्न से विभूषित होने पर जीव रत्नत्रय से अलंकृत हो जाता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्गी तथा पात्र माना गया है ।

तथा व्रती जीव, जो भी त्याग व आचरण करता है, वह सब चरणानुयोग की पद्धति से करता है, उसमें जो भी इन्द्रियसंयम एवं प्राणी संयम का पालना होता है, वह सर्व चरणानुयोगानुसार एवं लोकप्रवृत्ति अनुसार ही होता है, उसमें चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग की विवक्षा अभीष्ट नहीं है; अतः दान-दातार को पात्रपात्र की परीक्षा करते समय, व्यवहार-रत्नत्रय की मुख्यता से ही सुपात्र या कुपात्र व्रती जीव की पहिचान करनी चाहिए अर्थात् जिसके जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, हिंसारहित धर्म का श्रद्धान पाया जाए उसे सम्यक्त्वी और जिसके उनका (देव-शास्त्र-गुरु का) श्रद्धान नहीं है, उसे मिथ्यात्वी जानना चाहिए, क्योंकि दान देना, धर्मी श्रावक का परम कर्तव्य है; इसलिए उसे चरणानुयोगकथित सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण कर, स्वविवेक से निर्णय कर, दान देना चाहिए, अन्यथा चरणानुयोग की अपेक्षा से जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान में था, वही अन्तर्मुहूर्त में प्रथम गुणस्थान में आ जाए तो दातार, पात्र-अपात्र का निर्णय कैसे करे ? तथा जो द्रव्यानुयोगापेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करें तो मुनिसंघों में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं, सो प्रथम तो उसका ठीक (अच्छी तरह) निर्णय होना कठिन है, क्योंकि उनकी बाह्य प्रवृत्ति समान है ।

वस्तुतः द्रव्यलिंगी मुनि के स्थूल अन्यथापना नहीं होता, सूक्ष्म अन्यथापना होता है । वह सम्यग्दृष्टि को भासित होता है । उसका सूक्ष्म अन्यथापना क्या है? इसका तात्त्विक विश्लेषण आचार्यकल्प पं टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में व्यवहारभासी के 'सम्यक् चारित्र का अन्यथारूप' प्रकरण में पृ. 245 से 247 पर विस्तार से किया है, वहाँ से जान लेना तथा आठवें अध्याय में पृष्ठ 274 पर उन्होंने यह भी लिखा है -

'जो सम्यक्त्वरहित मुनिलिंग धारण करें व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाता हो (तो भी उपचार से) उसे मुनि कहते हैं । सो मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होने पर होता है, परन्तु पूर्ववत् उपचार से उसे मुनि कहा (जाता) है । समवसरण में मुनियों की संख्या कही, वहाँ सर्व मुनि शुद्ध भावलिंगी नहीं थे, परन्तु मुनिलिंग

धारण करने से सभी को मुनि कहा। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।’

– फिर वे आठवें अध्याय पृष्ठ 283 पर इस प्रश्न का समाधान करते हैं –

शंका – ‘सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे ?

समाधान – ‘व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और उसकी भक्ति करना भी व्यवहार ही है; इसलिए, जैसे कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है, उसीप्रकार आप सम्यक्त्व गुणसहित है, परन्तु जो व्यवहार-धर्म में प्रधान हो, उसे व्यवहार-धर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना। इसी प्रकार जो जीव, बहुत उपवासादि करे, उसे तपस्वी कहते हैं। यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है, वह उत्कृष्ट तपस्वी कहलाता है, तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्य तप की प्रधानता है, इसलिए उसे तपस्वी कहते हैं। इसप्रकार अन्य नामादिक जानना।’

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यक्त्व न होने की अपेक्षा तो कुपात्र ही है, तथापि चरणानुयोगापेक्षा उसे सुपात्र में ही गिना जाएगा, क्योंकि वह व्यवहार-संयमरूप रत्नत्रयधारी है और वह कभी भी शुद्धात्माभिमुख-परिणामरूप पुरुषार्थ जागृत कर, सीधे सप्तम गुणस्थान की निर्विकल्प अप्रमत्त शुद्धोपयोगदशा को प्राप्त कर सकता है और भावलिंग प्रगट कर सकता है।

परमागम में आहार-दान को वैयावृत्य (अपरनाम-अतिथिसंविभागव्रत) नामक श्रावकों के शिक्षाव्रत में अन्तर्गर्भित किया है। भोजन करना तो उसी गृहस्थ का सफल है, जो आहारदान पूर्वक भोजन करता है। अपना पेट तो पशु भी भर लेते हैं। जिसके घर में पात्रदान होता है, उसी का गृहस्थपना सफल है। उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोगभूमि, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है और अपात्र को दान देने से नरकादि गति की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार पूज्यता-अपूज्यता की अपेक्षा विचार करें तो हमें दर्शनपाहुड, गाथा 2 एवं 26 से समाधान कर लेना चाहिए –

दंसणहीणो ण वंदिव्वो।’

अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित वन्दनीय नहीं है।

‘असंजदं ण वंदेवच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज।

दोण्णि वि होति समाणा, एगो वि ण संजदो होदि।।

अर्थ – असंयमी तथा वस्त्रविहीन, भावसंयमरहित द्रव्यलिंगी साधु भी वंद्य नहीं है क्योंकि दोनों ही संयमरहित होने से समान हैं।

यहाँ कोई पूछे – बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन करनेवाले को अभ्यन्तर भाव में कपट हो, उसका निश्चय कैसे हो ? तथा सूक्ष्मभाव तो केवलीगम्य हैं, मिथ्यात्व हो, उसका निश्चय कैसे हो ? निश्चय बिना वन्दने की क्या रीति है ?

उसका **समाधान** – ऐसे कपट का जब तक निश्चय नहीं हो, तब तक आचार शुद्ध देखकर वन्दना करें, उसमें दोष नहीं है और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाए, तब वन्दना नहीं करे। यहाँ केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं, उसका बाध-निर्बाध करने का व्यवहार नहीं है। सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है। – (पं. जयचन्दजी छाबड़ा कृत इसी गाथा की टीका/भावार्थ से)

प.पू. अमितगति आचार्य ने योगसार 5/56 में कहा है –

‘द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति, स पूज्यो व्यवहारिभिः।

भावतो यो निवृत्तोऽसौ, पूज्यो मोक्षं यियासुभिः।।’

अर्थ – व्यवहारीजनों के लिए द्रव्यलिंगी भी पूज्य हैं, परन्तु जो मोक्ष के इच्छुक हैं, उन्हें तो भावलिंगी ही पूज्य हैं।

सारांश यह है कि धर्ममार्ग में तो पूज्यता संयम से ही आती है। भले ही लोकमार्ग में माता-पिता, दीक्षागुरु-शिक्षागुरु एवं राजा और मंत्री आदि असंयतजन भी पूज्य शब्द से व्यवहृत किये जाते हों। यद्यपि व्यवहार व्रत-संयम ग्रहण न किया होने से अविरत सम्यग्दृष्टि, जघन्यपात्र होने पर भी पूज्यता को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि मोक्षमार्ग में पूज्यता संयम धारण करने से मानी गयी है; तथापि जैसे लोक में अपने जन्मदाता माता-पिता एवं शिक्षागुरु आदि को पूज्य माना जाता है, उसी तरह अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गस्थ होने से यथायोग्य पूज्यपने के व्यवहार

को प्राप्त होता है। वहाँ पर सम्यक्त्व की महिमा दर्शाना ही अभीष्ट है; इसीलिए प.पू.समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में कर्णधार (खेवटिया) सिद्ध कर उसकी महिमा में ग्यारह श्लोक लिखे हैं, क्योंकि उस ही के कारण ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और चारित्र, सम्यक्चारित्र नाम पाता है, अन्यथा वे (ज्ञान-चारित्र), सम्यक्त्व के अभाव में मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र कहलाते हैं। यहाँ पर सम्यक्त्व-महिमासूचक रत्नकरण्ड श्रावकाचार के दो श्लोक उद्धृत कर रहा हूँ-

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

अर्थ - जिसे मिथ्यात्व (दर्शनमोह) नहीं है - ऐसा निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोही अनगार अर्थात् मोहसहित गृहरहित मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। इसी कारण मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ उत्कृष्ट है।

भावार्थ - जिसके मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं है - ऐसा अन्नत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है तथा वह सात-आठ भव देव-मनुष्य के ग्रहण करके नियम से मोक्ष जाएगा।

न सम्यक्त्व समं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभूताम् ॥

अर्थ - संसारी जीवों का सम्यग्दर्शन के समान तीनों काल और तीन लोक में अन्य कोई कल्याण करनेवाला नहीं है तथा उनका मिथ्यात्व के समान तीन काल और तीन लोक में अन्य कोई अकल्याण करनेवाला नहीं है।

भावार्थ - इस जीव का निकृष्टतम अपकार जैसा मिथ्यात्व करता है, वैसा अपकार करनेवाला, तीन लोक और तीन काल में कोई चेतन या अचेतनद्रव्य न है, न हुआ है, नहीं न होगा। विवेकी सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थाचार में रहता हुआ भी सदैव संसार-शरीर-भोगों से विरक्त ही रहता है तथा उसके अशुभरूप विषय-कषायों से बचने हेतु यथाशक्ति अणुव्रत-महाव्रतरूप सरागचारित्र को भी ग्रहण करने की भावना-अभ्यासरूप उद्यम वर्तता ही रहता है, क्योंकि उसे पता है कि 'पूर्णता के लक्ष से की गयी शुरुआत ही वास्तविक (सच्ची-यथार्थ) शुरुआत है।'

शुभोपयोग से पुण्यबन्ध चर्चा

जब सम्यग्दृष्टि जीव, एकदेश रत्नत्रय धारण करता है, देशव्रती हो जाता है; तब उसे जो कर्मबन्ध होता है वह उसके जो मन्दराग रूप कषाय है, उससे होता है, न कि रत्नत्रय रूप वीतरागांश से !

इस बात का प्रमाण पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक 211 से 222 में है। असमग्र रत्नत्रय में भी शुभभाव के प्रादुर्भाव से पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है, वह मिथ्यादृष्टि की तरह संसारवृद्धि का कारण नहीं कहा है, किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है। निर्ग्रन्थ अवस्था धारण कर लेने पर अर्थात् सकलसंयमी हो जाने पर तो वह रागांश घटते-घटते पूर्णतः समाप्त हो जाता है और वीतरागांश दूज की चन्द्रमा की तरह बढ़ते-बढ़ते एक दिन पूर्णता को प्राप्त हो पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह पूर्ण हो जाता है, तब वहाँ बन्ध का कोई कारण न रहने से पूर्ण अबन्ध अवस्था प्रगट हो जाती है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन से तीर्थकर-प्रकृति, देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियों का तथा चारित्र से आहारक प्रकृति का बन्ध होता है या नहीं ?

समाधान - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक 217 से 222 के आधार से इस प्रश्न का समाधान खोजा जा सकता है -

सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः।

योऽप्युपदिष्टाः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थकर-प्रकृति और आहारक-प्रकृति का बन्ध होता है - ऐसा जो जिनागम में उपदेश है, उसमें भी नय-विवक्षा को जाननेवाले को कुछ दोष (विरोध) नहीं दिखायी देता है, नहीं जान पड़ता है।

विशेषार्थ - तीर्थकर-प्रकृति का बन्ध, चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों से होना तथा आहारक-प्रकृति का बन्ध सम्यक्चारित्र से होना, जिनागम में कहा ही है तो भी नय-विभाग के ज्ञाता, इस कथन को अविरोध समझते हैं, क्योंकि अभूतार्थ व्यवहारनय की अपेक्षा से ही सम्यक्त्व व चारित्र को इन प्रकृतियों का बन्ध करनेवाला कहा है, परन्तु भूतार्थ निश्चयनय की अपेक्षा से सम्यक्त्व व चारित्र कभी भी बन्ध के निमित्तकर्ता

नहीं होते। बन्ध के कर्ता तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायभाव ही हैं, योग(आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द) तो प्रकृति-प्रदेशबन्ध का कारण होता है, जिससे अकषायी जीवों में ग्यारहवें-बारहवें-तेरहवें गुणस्थानों में मात्र योग से ईर्यापथ-आस्रव होता है। यदि सम्यक्त्व, चारित्र और शुद्धोपयोग भी बन्ध के कारण माने जायेंगे तो फिर उक्त तीन गुणस्थानों में भी उक्त पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध (स्थिति-अनुभाग सहित) मानना पड़ेगा, जो आगम-विरुद्ध होगा। यही बात अगले श्लोक में कह रहे हैं -

सति सम्यक्त्व-चारित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः ।

योगकषायौ नासति, तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥

अर्थ - जिसमें सम्यक्त्व और चारित्र के होते हुए तीर्थकर और आहारक-प्रकृति के बन्ध करनेवाले योग और कषाय होते हैं, और नहीं होते हुए नहीं होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र के बिना बन्ध के कर्ता, योग और कषाय नहीं होते, वे सम्यक्त्व और चारित्र, इस बन्ध में उदासीन हैं।

भावार्थ - सम्यक्त्व व चारित्र, उक्त प्रकृतियों के बन्ध के न तो कर्ता ही हैं और न अकर्ता ही, उदासीन हैं। जैसे, महामुनियों के समीपवर्ती जाति-विरोधी जीव, अपना-अपना वैरभाव छोड़ देते हैं, परन्तु वे मुनिराज, उन जीवों के इस वैरभाव-त्यागरूप कार्य के न तो कर्ता ही हैं और न अकर्ता हैं। वे कर्ता तो इस कारण नहीं हैं कि वे योगारूढ़ उदासीनवृत्ति के धारक बाह्य कार्यों से पराङ्मुख हैं और अकर्ता इस कारण नहीं हैं कि यदि वे न होते तो उक्त जीव, वैर-विरोध के त्यागी भी नहीं होते; अतएव वे कर्ता-अकर्ता न होकर उदासीन हैं।

इसी प्रकार तीर्थकर, आहारक-प्रकृति-बन्धरूप कार्य में सम्यक्त्व-चारित्र को जानना चाहिए। वस्तुतः इन प्रकृतियों का बन्ध सरागसम्यक्त्व अर्थात् सराग-चारित्र, जो शुभरागरूप ही हैं, उसके निमित्त से ही होता है। निश्चयसम्यक्त्व एवं वीतरागांशरूप निश्चयचारित्र, कदापि बन्ध के कारण नहीं होते हैं। वे तो संवर निर्जरा के ही कारण होते हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक - तीनों प्रकार के सम्यक्त्व परमार्थतः निश्चयसम्यक्त्व ही हैं, एकरूप (तत्त्वों की याथातथ्य-प्रतिपत्तिरूप) हैं। औपशमिक व क्षायोपशमिक, सादि-सान्त होने से सराग भी कहे जाते हैं,

वस्तुतः हैं नहीं। क्षायिकसम्यक्त्व, सादि-अनन्तकाल तक टिकनेवाला होने से वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है। सरागचारित्र के काल में ये तीनों सम्यक्त्व सराग नाम पाते हैं और पूर्ण वीतराग चारित्र के काल में इनको वीतराग नाम दिया जाता है। क्षायिकसम्यक्त्व अरिहन्त भगवन्तों की नौ लब्धियों में प्रथम लब्धि है और उसकी प्राप्ति चतुर्थादि गुणस्थानों में क्षायोपशमिक (कृतकृत्यवेदक) सम्यक्त्व से होती है। सरागसम्यग्दर्शन को ही व्यवहारसम्यग्दर्शन एवं सरागचारित्र को ही व्यवहारचारित्र संज्ञा है।

ननु कथमेवं सिद्ध्यति, देवायुः प्रभृति सत्प्रकृतिबन्धः ।

सकलजनसुप्रसिद्धो, रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥

अर्थ - कोई पुरुष शंका करता है कि रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ मुनियों के समस्त जनसमूह में भलीभाँति प्रसिद्ध देवायु आदिक उत्तम प्रकृतियों का बन्ध, पूर्वोक्त प्रकार से कैसे सिद्ध होगा? इसका समाधान आचार्य भगवन्त अगले श्लोक में करते हैं -

रत्नत्रयहेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।

आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥

अर्थ - इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म, निर्वाण का ही हेतु/कारण होता है, अन्य गति का नहीं और जो रत्नत्रय में पुण्य का आस्रव होता है, सो यह अपराध शुभोपयोग का है।

भावार्थ - 'कारण भिन्न तो कार्य भिन्न' - इस अटल जैन न्याय को समझने वाले अब समझ गये होंगे कि क्षयोपशमिकचारित्र क्या चीज है उसे मिश्रभाव क्यों कहा है? वस्तुतः गुणस्थानों के अनुसार मुनिजनों के जहाँ भेदाभेदरूप रत्नत्रय की आराधना होती है, वहाँ उनके अट्टाईस मूलगुणों के पालनेरूप भेद-रत्नत्रय अर्थात् शुभोपयोग का भी अनुष्ठान होता है, यही शुभोपयोगरूप सरागचारित्रांश, देवायु-प्रमुख-पुण्य-प्रकृति-बन्ध का कारण है अर्थात् इस पुण्य-प्रकृति-बन्ध में एक मात्र भेदरत्नत्रयरूप शुभोपयोग का अपराध ही है, अभेद (निश्चय) रत्नत्रय का नहीं।

सारांश यह निकला कि निश्चयरत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) पुण्य-प्रकृतियों के बन्ध का भी कारण नहीं है, यह तो एकमात्र संवर-निर्जरास्वरूप ही है, प्रगट वीतराग निर्मल पर्यायांशरूप ही है। सरागचारित्र को चारित्र मोह के

देशघाती स्पृहकों के उदय से होनेवाला महामन्द प्रशस्त रागरूप भाव है; यह चारित्र का मल है, उसे छूटता न जानकर ज्ञानी मुनिराज उसका त्याग नहीं करते, सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं, परन्तु इस सरागभाव में संवर-निर्जरा के भ्रम से प्रशस्त रागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धान नहीं करते।

फिर प्रश्न है कि रत्नत्रय को पुण्यबन्ध का कारण कैसे कहा है ?

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।

इह दहति घृतमिति यथा, व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितिः ॥

अर्थ - निश्चय से एक वस्तु में अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी मेल से वैसा ही व्यवहार रूढ़ि को प्राप्त है। जैसे, इस लोक में घी जलाता है, इस प्रकार कहावत है।

भावार्थ - जैसे. अग्नि, दहनरूप कार्य में कारण है और घृत, अदहनरूप कार्य में कारण है, परन्तु जब इन दोनों अत्यन्त विरोधी कारणों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, तब कहा जाता है, कि इस पुरुष को घृत ने जला दिया। इसी प्रकार शुभोपयोग, पुण्यबन्धरूप कार्य में कारण है और रत्नत्रय मोक्षरूप कार्य में कारण है, परन्तु जब क्षायोपशमिकचारित्र के रूप में (गुणस्थान की आरोहण-परिपाटी में) दोनों एकत्र होते हैं, तब लोक-व्यवहारवत् उपचार से यह कहा जाता है कि रत्नत्रय से बन्ध हुआ। यदि यथार्थ में रत्नत्रय को ही बन्ध का कारण मान लिया जाएगा, तब फिर मोक्ष के कारण का अभाव होने से मोक्ष का ही अभाव हो जाएगा!

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचाररूपः, प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥

अर्थ - इसप्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र लक्षणवाला मोक्ष का मार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करा देता है।

भावार्थ - अष्टांगविध सम्यग्दर्शन, अष्टांगविध सम्यग्ज्ञान और मुनियों के महाव्रतरूप आचरण सहित त्रयोदशांगविध सम्यक्चारित्र को व्यवहार-रत्नत्रय कहते हैं तथा अपने आत्मतत्त्व का परिज्ञान (श्रद्धान-ज्ञान) और उसी में निश्चल (लीन) होने को निश्चय-रत्नत्रय कहते हैं। यह दोनों प्रकार का रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है; जिसमें से निश्चय-रत्नत्रय, साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार-रत्नत्रय,

परम्परा मोक्षमार्ग है। पथिक के उस मार्ग को, जिससे कि यह अपने अभीष्ट देश को क्रम से स्थान-स्थान पर ठहर कर पहुँचता है, परम्परा मार्ग कहते हैं और जिससे अन्य किसी स्थान में ठहरे बिना ही सीधा इष्ट देश को पहुँचता है, उसे साक्षात् मार्ग कहते हैं। व्यवहार-रत्नत्रय अर्थात् सराग-चर्यारूप चारित्र, पुण्यबन्ध का कारण है, अपराध है; अतः हेय है तथा निश्चय-रत्नत्रय अर्थात् वीतराग-चारित्र, संवर-निर्जरा का कारण है, शुद्धभाव है; अतः उपादेय है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र के उक्त श्लोकों में प.पू. श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यजी ने सतर्क व्याख्या द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी कि जिस शुभभाव से तीर्थकर नामकर्म नामक महापुण्यप्रकृति का बन्ध होता है, वह भाव भी अपराध है अर्थात् रागभाव का होना, वह आत्मा की भावहिंसा है। इससे श्रद्धा के धरातल पर यह बात यथार्थ ही है कि जीव के वे सब भाव (मोहजन्य परिणाम) जिनसे कर्मास्रव-बन्ध होता है, हेय ही हैं; क्योंकि वे अपने शुद्धभावों के घातक हैं। आत्मोन्नति के इस मार्ग में सर्वप्रथम गृहीत मिथ्यात्व का जाना (त्याग) होता है, अशुभभावों का आना रूकता है और शुभभावों का आना प्रारम्भ होता है। पश्चात् करणलब्धिपूर्वक स्वात्मोन्मुखी उपयोग की दशा में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, शुद्धभावों का अंकुरण होना होता है और क्रमापतित सरागचारित्र के ग्रहणपूर्वक स्वरूप-स्थिरतारूप शुद्धभावों की वृद्धि होते-होते (स्वरूप-अस्थिरतारूप सरागचारित्र के शुभपरिणाम गौण होते-होते) पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जाती है, अशुद्धता का सर्वथा अभाव हो जाता है। मुक्ति के मार्ग की यही प्रक्रिया है।

आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के शब्दों में (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213) सारांश यह है, 'इसलिए बहुत क्या कहें ? ... जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, जिस प्रकार रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिस प्रकार रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक् चारित्र है - ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।' ... तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा - ऐसा विचार कर व्रत-तप आदि क्रिया ही के उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते, सो तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होने पर (प्रारंभ में) कुछ भी व्रतादिक नहीं है, तथापि असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिए पहले

तत्त्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय हटाने के लिए बाह्य साधन करना ।
.....क्योंकि सम्यग्दर्शन की भूमिका के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते ।’

सम्यग्दृष्टि जो भी व्रत-नियमरूप प्रतिज्ञा करते हैं सो तत्त्वज्ञानपूर्वक ही करते हैं । ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है, सर्व विचार कर, जैसे वीतरागभाव बहुत हो, वैसा करें, क्योंकि मूल धर्म वीतरागभाव है । प्रवचनसार में आत्मज्ञानशून्य संयमभाव को अकार्यकारी कहा है; इसलिए सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है । संसारपरिभ्रमण का मूल मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धान) ही है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है । परद्रव्य-परभावों से भिन्न निजशुद्धात्मा का अनुभव, सच्चा मोक्षमार्ग है, निश्चय-मोक्षमार्ग है तथा (बाह्य) व्रत-तप आदि मोक्षमार्ग है नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिए इन्हें व्यवहार कहा है । भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय-व्यवहार कहा है, सो ऐसा ही मानना चाहिए, परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना तो मिथ्या(भ्रम)बुद्धि ही है ।

अब यदि कोई निर्विचारी पुरुष ऐसी मिथ्या धारणा बना ले कि व्रत-शील-संयमरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है तो फिर हम यह व्यवहार-व्रतादिक किसलिए पालें ? सबको छोड़ देवें ! तब तो वहाँ हिंसादि अव्रतरूप प्रवर्तने से उसका बहुत ही बुरा होगा, क्योंकि वहाँ अशुभपापरूप प्रवर्तने से तो मोक्षभाग का उपचार भी सम्भव नहीं होगा । व्यवहार-मोक्षमार्ग (सराग-चारित्र) निश्चय-मोक्षमार्ग (वीतराग-चारित्र) का सहकारी निमित्त है, इसलिए उसे उपचार से मोक्षमार्ग संज्ञा है ।

वस्तुतः अणुव्रत-महाव्रत रूप व्यवहार-चारित्र अंगीकार करने पर ही देशचारित्र-सकलचारित्र प्रगट होता है; इसलिए इन व्रतों को अन्वयरूप कारण जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके इनको चारित्र कहा है, मोक्षमार्ग कहा है । हाँ, यह आवश्यक नहीं है कि व्यवहार-चारित्र ग्रहण किया है तो निश्चय-चारित्र प्रगट हो ही जायेगा, किन्तु जब भी प्रगटेगा, इसके होने पर ही प्रगटेगा, अन्यथा नहीं । इसीलिए श्री सिद्धचक्र महामण्डल विधान-पूजन की जयमाला में यह छन्द लिखा है -

‘भावलिंगं विन कर्मं खिपाई, द्रव्यलिंगं विन शिवपद जाई ।
यों अयोग कारज नहीं होई, तुम गुण-कथन कठिन है सोई ॥’

अर्थ - हे भगवन् ! द्रव्यलिंग (धारण क्रिये) बिना कोई मोक्ष चला जाए और भावलिंग (प्रगट हुए) बिना कर्मों का नाश हो जाए - यह बात जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार आपके गुणों का कथन कर पाना भी कठिन है । (अर्थात् यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति के लिए दोनों ही लिंग अनिवार्यरूप से कार्यकारी हैं, एक निमित्त है तो दूसरा उपादान । एक उपयोगी है तो दूसरा उपादेय तथापि सरागता हेय है, वीतरागता उपादेय है ।)

अद्विईस मूलगुणों के पालने रूप भेद रत्नत्रय अर्थात् शुभोपयोग का भी अनुष्ठान है, यही शुभोपयोग रूप सराग चारित्रांश देवायु प्रमुख पुण्यप्रकृति बन्ध का कारण है, अर्थात् इस पुण्यप्रकृति बन्ध में एक मात्र प्रकृत में हमें यह भी जानना चाहिए कि वस्तु का/वस्तुओं का स्वभाव क्या है ? क्योंकि जब तक हम वस्तु के स्वभाव से भलीभाँति परिचित नहीं होंगे तो हमारा सारा श्रम निरर्थक हो जाएगा, जैसा कि आज तक निरर्थक होता रहा है ।

जैनदर्शन के समस्त सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ-विज्ञानाधारित हैं। सर्व जीवों का एकमात्र प्रयोजन सुख की प्राप्ति करना है, दुःखों से छूटना है । यदि सच्चा सुख पर के आश्रय से मिलता होता तो फिर संसार में कोई दुःखी ही न दिखायी देता । सभी सुखी होने के लिए दिन-रात कोई न कोई कार्य करने में लगे ही रहते हैं । यहाँ तक कि कोई उन्हें समझाये कि प्रथम सुखस्वभावी पदार्थ की खोज करो तो वे कहते हैं, ‘भैया! हमें तो अभी मरने की भी फुरसत नहीं है, और आप कहते हैं कि स्वाध्याय करो, प्रभु भक्ति करो, आत्म-ध्यान करो, अन्याय-अनीति-अभक्ष्य का त्याग करो । लेकिन हमें तो बिना धन-प्राप्ति के कहीं भी सुख नहीं दिखायी देता । यद्यपि हम प्रतिदिन मन्दिर जाते हैं, दर्शन-पूजन भी करते हैं, तथापि कर्म पीछा नहीं छोड़ते ।’

इसका जवाब यह है कि - ‘आप अपने मन की व्यथा प्रतिदिन भगवान को सुनाने जाते हो, लेकिन तुम्हारी प्रार्थना भगवान सुनते हैं या नहीं ? या तो तुम मात्र सुनाये ही जाते हो इस आशा से कि कभी न कभी भगवान मेरी भी सुन लेगा । अरे! आप भगवान की भी तो सुनो कि वे क्या कहते हैं ? भगवान ने सभी जीवों को सुखी होने का एक मात्र उपाय ‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।’ बतलाया है, वह सब चारों अनुयोगों में निबद्ध जिनवाणी में लिखा है । तुम्हें अपनी बुद्धि-प्रमाण जिस भी

अनुयोग में (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग में) मन लगे, उसका एकाग्रचित्तपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। आप भगवान की तो एक नहीं सुनते और अपना रोना-धोना उन्हें सुनाये चले जाते हो तथा जड़कर्मों को कोसते रहते हो, अरे! शुभाशुभभावों को आमन्त्रण दे-दे कर बाँधे तो तुम्हीं ने हैं न ?

देखो भाई ! तुम्हें सर्वज्ञकथित बातों पर विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वे वीतरागी- सर्वज्ञ हैं, त्रिकालज्ञ हैं, वे अन्यथावादी नहीं है। वे तो मात्र आपको अपनी मान्यता सही कर लेने की बात कहते हैं, क्योंकि इस संसार में झूठी/ मिथ्या मान्यता जैसी कोई गरीबी नहीं और सच्ची, सम्यक् मान्यता जैसी कोई अमीरी नहीं। जब तुम भगवान की नहीं सुनते तब वे तुम्हारी क्यों सुनें? वे तुम्हारा व्यवहार नहीं छुड़ते हैं, बल्कि व्यवहार को निश्चय या परमार्थ मानना छुड़ते हैं। व्यवहार तो निश्चय का प्रतिपादक, अभिव्यंजक मात्र होता है।

आप रागी-द्वेषी, अल्पज्ञों, अनात्मज्ञों की एक भी मत सुनो, परन्तु सर्वज्ञ-वाणी, जिनवाणी की सबकुछ सुनो अथवा जो अपने हितैषी हों, निःस्वार्थ भाव से धर्म के मर्म की बातें सुनायें तो उनकी सुनो। अपनी बुद्धि से विचार करना, न्याय से समझना, अपनी बुद्धि कभी किसी के पास गिरवी मत रखना। व्यवहार-धर्माचरण तो आये बिना रहेगा नहीं और अधर्माचरण जाये बिना रहेगा नहीं।

एक बार जब कहीं बाहर गाँव या तीर्थयात्रादि पर जाने का निश्चय मन में हो जाता है तो तदनुकूल तैयारी भी हम करने लगते हैं। अरे, जैनधर्म का सेवन तो संसारनाश के लिए किया जाता है और अपने को वह महाभाग्य से मिल गया है तो फिर देरी किस बात की ?

अपनी शक्तिप्रमाण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ध्यान में रखकर बने जितना संयम भी पालो, कहीं जैनदर्शन पाप करने की अनुमति तो देता नहीं है, खूब पुण्य-कार्य करो, कौन रोकता है ? परन्तु आत्मज्ञान के बिना वे कीमती रत्न नहीं बन जाते हैं।

हम व्यर्थ परद्रव्यों के कर्ता बने फिरते हैं, वे तो अपने आप अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणामते रहते हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने परिणामन के लिए साधनान्तर की अपेक्षा नहीं रखती। (प्रवचनसार, गाथा 98, तत्त्वप्रदीपिका) तथा 'वज्रकारण निरवेक्खो वत्थुपरिणामो' (जयधवला, 7/117) अर्थात् वस्तु का परिणामन बाह्य कारणों से निरपेक्ष होता है, उसके परिणामन में 'उचित

बहिरंग-साधनों की सन्निधि का सद्भाव' तो होता ही है। (प्रवचनसार, गाथा 95, तत्त्वप्रदीपिका) कोई भी वस्तु द्रव्य से द्रव्यान्तर नहीं होती, गुण से गुणान्तर नहीं होती। (समयसार, गाथा 103, आत्मख्याति) स्वयं परिणामती वस्तु को परिणामनेवाला कर्ता बनना ही अनन्त दुःखों को आमन्त्रण देना है।

जीव पुद्गल-कर्मण वर्गणाओं को ज्ञानावरणादि कर्मरूप नहीं परिणामता और पूर्वबद्ध कर्मोदय, जीव को विकाररूप नहीं परिणामते हैं, क्योंकि सर्वद्रव्य परिणामन स्वभाववाले हैं; इसलिए वे अपने-अपने भाव के स्वयं ही कर्ता हैं।

प्रत्येक द्रव्य की कार्य-सीमा, उसके अपने परिणाम तक ही होती है। कोई भी द्रव्य, अपने से भिन्न सत्तावाले द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं हो सकता। जो होवे, तो उसे उस अन्य द्रव्यरूप हो जाना पड़ेगा।

व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, तत्स्वरूप अर्थात् अपने द्रव्य में ही होता है। जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्था विशेष वह (उस व्यापक का) व्याप्य है। इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं।

जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है, वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है। जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव होता है, वहीं कर्ता-कर्म भाव होता है। व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है, वह पुद्गल और आत्मा के कर्ता-कर्मभाव नहीं है - ऐसा जानता है।' (समयसार-कलश 49)

जो सांख्यमती, प्रकृति और पुरुष (आत्मा) को सर्वथा अपरिणामी मानते हैं, उन जैसी मान्यता, जिनमतानुयायियों की नहीं होती है। पुद्गलों में कर्मरूप परिणामने की शक्ति एवं जीवों में क्रोधादि विकाररूप या अविकाररूप परिणामने की शक्ति अपनी-अपनी स्वयं से है। मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणामना तथा जीव-प्रदेशों से बाँधना और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप स्वयं परिणामना - यह तीनों ही कार्य, एक समय में ही होते हैं। सब स्वतंत्रतया अपने आप ही परिणामते हैं, कोई किसी का परिणामन नहीं कराता। जीव कभी भी जड़कर्मरूप नहीं परिणाम सकता और पुद्गलकर्म, कभी जीवरूप नहीं परिणाम सकते, हाँ ! जीवपरिणाम को निमित्त करके, पुद्गल-

कर्मरूप परिणामित होते हैं और पुद्गल-कर्म को निमित्त करके जीव भी परिणामित होते हैं।'

इसप्रकार अन्योन्य निमित्तमात्रता तो है अर्थात् दोनों में निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध नहीं है, तथापि उनके कर्ता-कर्मपना सर्वथा नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए, उनका कर्ता तो जीव को अज्ञानदशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव, परभाव का कर्ता कदापि नहीं है।

यदि जीव, पुद्गलों को और पुद्गलकर्म, जीव को कर्ता होकर परिणामाते हों तो क्या वे 'नहीं परिणामते हुए' को परिणामाते हैं या 'स्वयं परिणामते हुए' को परिणामाते हैं? परन्तु नहीं परिणामते हुए' को कोई कैसे परिणामा सकता है? और स्वयं परिणामते हुए' को अन्य परिणामानेवाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि 'न हि स्वतोऽसति शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते' अर्थात् वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई कर नहीं सकता। इसीप्रकार 'न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते' अर्थात् वस्तु की शक्तियाँ, पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (समयसार गाथा 116 से 125, आत्मख्याति) जो निमित्त नहीं मानते, वे जीव तो मिथ्यादृष्टि हैं ही, किन्तु जो निमित्त को कर्ता मानते हैं, वे भी महा मिथ्यादृष्टि हैं। जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही न माना जाए, तो संसार और मोक्ष, दोनों के अभाव का प्रसंग आ जाएगा और यदि उनमें व्याप्य-व्यापकभाव से कर्ता-कर्म सम्बन्ध माना जाए, तो जड़-चेतन में तन्मयपने का प्रसंग आएगा, तथा यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी एक-दूसरे का कर्ता माना जाये तो नित्यकर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जाएगा, अतः जीव-पुद्गल, अपने-अपने परिणामों (पर्यायों) के कर्ता सिद्ध हुए। (देखो, समयसार, गाथा 100, आत्मख्याति)

इस परमार्थदृष्टि से निमित्त, उपादान के कार्य में अकिंचित्कर ही सिद्ध होता है।

प्रश्न - इस अर्थ से अकिंचित्कर शब्द का प्रयोग आप ही कर रहे हैं। अन्यत्र तो जिनागम में कहीं देखा नहीं।

समाधान - प्रवचनसार, गाथा 45, 67 एवं 239 की तत्त्वप्रदीपिका टीका देखें, वहाँ पर तीर्थकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर कहा है; आत्मा, स्वयं सुखपरिणाम की शक्तिवाला होने से विषयों को अकिंचित्कर कहा है तथा आत्मज्ञान-शून्य संयमाचरण को अकिंचित्कर कहा है।

शिवाकांक्षी, ब्र. हेमचंद्र जैन, 'हेम', देवलाली

सम्यक् नियति बनाम पुरुषार्थ चर्चा- नियति बनाम पुरुषार्थ

स्व. पं. श्री बाबुलालजी जैन (कलकत्तावाले)

दिल्ली का एकलेख -

पता - बी/37, विवेक विहार-नई दिल्ली,

1. नियतिवाद क्या है ?

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गाथा 876 से गाथा 889 तक चौदह गाथाओं के द्वारा तीन सौ तिरसठ एकान्त मतों का संक्षिप्त निरूपण किया है। इसी प्रकरण के अंतर्गत वे 'नियतिवाद' नामक ऐकान्तिक मान्यता का इस प्रकार वर्णन करते हैं -

जतु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि ततु तदा।

तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ 882 ॥

अर्थात् जो (कार्य/पर्याय) जब (जिस काल में), जिसके द्वारा, जिस प्रकार से, जिसका नियम से जो होना होता है, वह (कार्य पर्याय) तब ही (उसी काल में), उसी के द्वारा, उसी प्रकार से, उसका होता है - ऐसा मानना, नियतिवाद है। नियतिवाद विषयक ऐसा ही निरूपण प्राकृत पंचसंग्रह एवं आचार्य अमितगतिकृत पंचसंग्रह (1/312) में भी पाया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्य एकान्तवादों की तरह ही 'नियतिवाद' भी एक मिथ्या मान्यता है।

2. आगम-सम्मत 'पंच हेतु समवाय'

कार्योत्पत्ति के सन्दर्भ में स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि और नियति/भवितव्यता - ये पाँच हेतु आगम में बतलाये गये हैं। जैसा कि आचार्य सिद्धसेन सन्मत्तिसूत्र में कहते हैं -

कालो सहाय णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।

मिच्छंतं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं ॥ 3.53 ॥

यहाँ 'पूर्वकृत' को कर्मोदय या अन्तरंग निमित्त में गर्भित किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी कार्य के होने के सम्बन्ध में इन पाँचों हेतुओं का समवाय या सम्मेल (सुमेल) होना चाहिए।

3. नियतिवादियों द्वारा पाँच समवायों का अनुप्रयोग

आधुनिक नियतिवाद के समर्थक भी आगम-सम्मत उक्त पाँच हेतुओं को कार्य-व्यवस्था में कुछ इसप्रकार घटाने की कोशिश किया करते हैं -

सर्वप्रथम स्वभाव के विषय में चूँकि किसी पदार्थ में किसी समय में परिणामन की जो योग्यता है, वह एक ही प्रकार की होती है, अन्यथा नहीं, जिसे पर्याय-योग्यता कहते हैं। इसलिए स्वभाव का तात्पर्य है - विवक्षित द्रव्य की विवक्षित समय में जो पर्याय योग्यता है, उसका होना। उसी के अनुकूल वैसा ही निमित्त अपनी योग्यता से वहाँ उपस्थित रहता है। द्रव्य उसी कार्य/पर्याय के लिए 'पुरुषार्थ' करता है। वही होता है, जो भवितव्य है तथा वह कार्य/पर्याय अपने ही समय में होता है, सो ही काललब्धि है।

इसप्रकार आधुनिक नियतिवादी पाँच समवायों को अपनी मान्यता के अनुसार घटाते हैं।

4. पुरुषार्थवाद अथवा सम्यक् अनियतिवाद

उक्त नियतिवादी मान्यता ऐकान्तिक इसलिए है, चूँकि वह प्रतिपक्षी नय का विषयभूत अनियतिस्वरूप जो जीव का पुरुषार्थ है, उसकी तनिक भी सापेक्षता नहीं रखती। आलसी, निरुद्यमी लोग मिथ्या नियति का सहारा लेकर पुरुषार्थ का अनादर करते हैं। जब कि मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की ही प्रधानता है। अपने-अपने राग-द्वेष से प्रेरित हुए प्राणी, संसार में तो पुरुषार्थ करने से अपने राग (या द्वेष) के विषयभूत पदार्थों के पीछे दौड़ने से (अथवा उनसे दूर भागने से) जरा भी नहीं चूकते, परन्तु जब मोक्षमार्ग की बात आती है तो नियति का आश्रय लेकर पुरुषार्थ से जी चुराते हैं, यह एक सर्वविदित एवं सर्वानुभूत सत्य है।

ऊपर बिन्दु क्रमांक 3 में किये गये कथन पर गहराई से विचार करें तो पाते हैं कि आधुनिक नियतिवाद के मूल में पड़ी है यह मान्यता कि 'किसी पदार्थ की किसी समय में केवल एक विशेष पर्याय को प्रगट करने की ही योग्यता होती है, जिसे कि पर्याय-योग्यता कहते हैं। आगे विस्तार से विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि वस्तुस्वरूप ऐसा कदापि नहीं है। वस्तुतः किसी भी पदार्थ में किसी भी समय अनेक रूप से परिणामन करने की सामर्थ्य या योग्यताएँ होती हैं। फिर हमारे विवक्षित कार्य के सन्दर्भ में वह पदार्थ चाहे उपादान हो या निमित्त; अतः किसी भी पदार्थ में किसी

भी समय अनेकानेक पर्याय योग्यताएँ हुआ करती हैं। अपने चुनाव/रुचि/रुझान/स्वभाव के अनुसार उपादानरूप द्रव्य जिस किसी एक पर्याय को प्रकट करने का पुरुषार्थ करता है, वहाँ उसी पर्याय में अनुकूल पड़नेवाले निमित्त, द्रव्य की तदनुकूल योग्यता का अवलम्बन लेकर निज-पर्याय या कार्यरूप परिणत होता है, जिस कार्यरूप परिणत होता है, वही भवितव्य है और जिस समय होता है, वही काललब्धि है। इस प्रकार ये पाँच समवाय, सम्यक् अनियतिवाद अथवा पुरुषार्थवाद को समादर देकर किये गये कार्य-व्यवस्था के विश्लेषण में सम्यक् रूप से घटित होते हैं।

मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में पुरुषार्थवाद की ही प्रधानता है, जैसा कि पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के नौवें अधिकार में पुरुषार्थ को समर्थ कारण, जबकि अन्य हेतुओं को असमर्थ कारण बतलाते हुए कहा है - 'यहु आत्मा जिस कारण तैं कार्यसिद्धि अवश्य होय, तिस कारणरूप उद्यम करै, तहाँ तौ अन्य कारण मिलै ही मिलै। अर कार्य की भी सिद्धि होय ही होय। बहुरि जिस कारण तैं कार्यसिद्धि होय, अथवा नाहीं भी होय, तिस कारणरूप उद्यम करै, तहाँ अन्य कारण मिलै तो कार्यसिद्धि होय, न मिलै तो सिद्धि न होय। जैसे जो जीव, पुरुषार्थ करि जिनेश्वर के उपदेशअनुसार मोक्ष का उपाय करै है ताकै काललब्धि व होनहार भी भया, अर कर्म का उपशमादि भया है तो यह ऐसा उपाय करै है। तातै जो पुरुषार्थ करि मोक्ष का उपाय करै है, तातैं सर्व कारण मिलै है - ऐसा निश्चय करना। बहुरि जो जीव, पुरुषार्थ करि मोक्ष का उपाय न करै, ताकै काललब्धि वा होनहार भी नाहीं। अर कर्म का उपशमादि न भया है, तौ यह उपाय न करै है। तातै जो पुरुषार्थकरि मोक्ष का उपाय न करै है, ताकै कोई कारण मिलै नाहीं, ऐसा निश्चय करना।

5. द्रव्य योग्यता और पर्याय-योग्यता

जगत् का प्रत्येक कार्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, इस स्वभावत्रयी के अनुसार ही होता है - यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्रत्येक द्रव्य में अनेकानेक मूल द्रव्य-शक्तियाँ या द्रव्य-योग्यताएँ समानरूप से सुनिश्चित हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक जीव में सिद्ध होने की शक्ति अथवा योग्यता है। वर्तमान में यह जीव 'निगोद पर्याय' में है अथवा पंचेन्द्रिय पर्याय में, इसका प्रश्न नहीं है। इसी प्रकार चूँकि प्रत्येक जीव, चौदह गुणस्थानों सम्बन्धी असंख्यात लोक-प्रमाण भिन्न-भिन्न

परिणामों को करने में समर्थ है। अतएव प्रत्येक जीव में असंख्यात लोक-प्रमाण द्रव्य-शक्तियाँ अथवा द्रव्य योग्यताएँ विद्यमान हैं।

एक जाति के अनेक द्रव्यों में द्रव्य-योग्यताएँ समान होते हुए भी, अमुक चेतन पदार्थ या अमुक अचेतन पदार्थ में वर्तमान स्थूल-पर्याय सम्बन्धी अनेकानेक शक्तियाँ या योग्यताएँ सम्भव हैं, जिन्हें पर्याय-शक्ति या पर्याय-योग्यता कहा जाता है, जैसे यद्यपि प्रत्येक पुद्गल-परमाणु में घट, पट आदि सभी (पौद्गलिक) पदार्थरूप बनने की द्रव्य-योग्यता है, किन्तु यदि कोई परमाणु, वर्तमान में मिट्टी के पिण्ड में शामिल है, मृत्तिका पिण्डरूपी स्कन्ध का एक अंश है तो वह घटरूप ही परिणमन कर सकता है, पटरूप नहीं; अतः उसमें घट होने की तो पर्याय-योग्यता है, परन्तु पट होने की पर्याय-योग्यता का अभाव है। इसी प्रकार कोई अन्य परमाणु जो वर्तमान में कपासरूपी स्कन्ध का एक अवयव है, उसमें पटरूप होने की तो पर्याय-योग्यता है, घटरूप होने की नहीं है।

6. एक समय में अनेकानेक पर्याय योग्यताओं का सद्भाव

मिट्टी के पिण्डवाला परमाणु, वर्तमान में केवल घटरूप होने की योग्यता रखता हो - ऐसा नहीं है; उसमें घड़ा, सुराही, सकोरा, तौला, प्याला, गिलास इत्यादि अनेक परिणमनों की संभावना मौजूद है अर्थात् ये सब पर्याय-योग्यताएँ उसमें विद्यमान हैं। अब कुम्हार की इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि जैसी बाह्य सामग्री मिलती है, तदनुसार अमुक पर्याय प्रकट हो जाती है। इतना ही नहीं, वही मिट्टी, यदि कुम्हार द्वारा नहीं लायी जाती और खेत में ही पड़ी रहती तो वे विवक्षित परमाणु, किसी पौधे के रूप में भी परिणमन सकते। अथवा यदि वह मिट्टी किसी ईंटों के भट्टे पर ले जायी जाती तो विवक्षित परमाणु, किसी वास्तु-भवन के रूप में व्यक्त हो सकता है। इसी प्रकार कपास वाले परमाणु में सूत, डोरा, तकिया, गद्दा, चादर, वस्त्र आदि अनेकरूप परिणमन करने की योग्यताएँ अर्थात् पर्याय-योग्यताएँ विद्यमान हैं।

ऊपर दिये गये दो उदाहरण जड़-पदार्थ सम्बन्धी थे। अब हम पुनः चेतनद्रव्य के बारे में विचार करते हैं। प्रत्येक जीव में उक्त असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्य-योग्यताएँ होते हुए भी वर्तमान स्थूलपर्याय में - जैसे कि हमारी मनुष्यपर्याय में - कोई भी जीव, उस राशि के एक भागांश मात्र परिणाम करने में समर्थ है, यह

करणानुयोग का कथन है। ध्यान देने योग्य है कि एक लोक-प्रमाण राशि का भी अर्थ है - सम्पूर्ण लोकाकाश की प्रदेश-संख्या, जो कि असंख्याताऽसंख्यात होती है। अब यह जीव, इतनी विशाल, इतनी अधिक सम्भवनाओं में से कौनसी पर्याय, वर्तमान में प्रकट करता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि यह अपने उपयोग में किस पदार्थ का अवलम्बन, अपने चुनाव के अनुसार लेता है।

उदाहरण के लिए - कोई मनुष्य घर में बैठा हुआ है, खाली बैठे हुए भी वह किसी न किसी पदार्थ के बारे में सोचता रहता है, कुछ न कुछ उधेड़-बुन अवश्य किया करता है। यदि वह टेलिविजन देखने लग जाता है तो तदनुसार उसका मानस प्रवृत्त होता है। किसी कथा-कहानी के पात्रों से जुड़कर राग-द्वेषरूप परिणमन करने लगता है। दूसरी ओर यदि वह किसी सुशास्त्र का अवलम्बन लेने लगता है, उसका अध्ययन करने में अपने उपयोग को लगाता है तो कुछ दूसरे ही प्रकार के भाव उसके मन में उदित होंगे; जो भी हो, चुनाव उस मनुष्य का है। इसी प्रकार व्यापार करते हुए वह झूठ, चोरी, बेईमानी का सहारा भी ले सकता है और इसके विपरीत न्याय व ईमानदारीपूर्वक भी जीविकोपार्जन कर सकता है। अपने जीवन में सप्त व्यसन का सेवन भी कर सकता है और संयमपूर्वक भी रह सकता है। इस प्रकार आजीविका, आमोद-प्रमोद, भोग-सामग्री और दूसरी ओर सुदेव-गुरु-शास्त्र इन भिन्न-भिन्न अवलम्बनों के माध्यम से भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम करना, यह सब जीव की पर्याय-योग्यता के अन्तर्गत आता है।

अगर आज की भाषा में कहें तो हमारा मन हजारों, लाखों चैनलवाले टी.वी.सेट के समान है और हम सबमें चैनल का चुनाव करने की योग्यता है। हम जिस चैनल का चुनाव करते हैं, उसी रूप वर्तन लगते हैं। तात्पर्य यह है कि हम जिस किसी पदार्थ का अपने उपयोग में अवलम्बन लेते हैं, उसी से सम्बन्धित विकल्प करने लगते हैं।

इसप्रकार निष्पक्ष, तर्क-संगत, युक्ति-युक्त और प्रत्यक्ष-अनुभव से अबाधित विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में चाहे वह अचेतन हो अथवा चेतन, अनेकानेक प्रकार की पर्याय-योग्यताएँ पायी जाती हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि अचेतन पदार्थ के परिणमन में तो अनेकों में से किसी एक पर्याय-योग्यता की अभिव्यक्ति तो - मुख्यतः बाहरी निमित्तों के मिलने पर निर्भर करती है।

जबकि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का परिणमन (अनेकों में से किसी एक योग्यता की अभिव्यक्ति) में मुख्यतः उनके स्वयं के चुनाव, स्वयं के पुरुषार्थ पर आधारित है और यही कारण है कि सर्वज्ञ भगवान तथा पूज्य आचार्यों ने उन्हीं को लक्ष्य करके उपदेश दिया है।

7. ज्ञानात्मक परिणामों सम्बन्धी अनेकानेक योग्यताएँ :

ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम के अनुसार

यदि कोई संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है, जैसे कि हम सब मनुष्य है, तो उसके पाँच इन्द्रिय और मन सम्बन्धी मति-श्रुत-ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का जितना क्षयोपशम वर्तमान में है, उतनी ही पर्याय-योग्यताएँ उस जीव के हैं, जैसा कि परीक्षामुख (2/10) में कहा गया है - 'स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया।' अर्थात् जानने रूप अपनी शक्ति को ढकने वाले ज्ञानावरणादि कर्म की क्षयोपशमरूप अपनी योग्यता है; अतः संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, किसी क्षण अपने चुनाव के अनुसार किसी भी एक इन्द्रिय-विषय को अपने उपयोग में ले सकता है - शेष इन्द्रियों सम्बन्धी क्षयोपशम, उसी समय वहीं लब्धिरूप से विद्यमान रहता है।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के दूसरे अधिकार में यही आशय व्यक्त किया है -

'इहां प्रश्न : जो एक कालविषै एक विषय का जानना वा देखना हो है तो इतना ही क्षयोपशम भया कहौ, बहुत काहे कुं कहौ। बहुरि तुम कहो हौ क्षयोपशम तैं शक्ति हो है तो शक्ति तौ आत्मविषै केवलज्ञान-दर्शन की भी पाइये है ?

ताका समाधान ... इस जीव कै सर्व कौ देखने की, जानने की शक्ति है, बहुरि याकौ कर्म ने रोक्या अर इतना क्षयोपशम भया कि स्पर्शादिक विषयनि कै जानौ वा देखौ परंतु एक कालविषै एक ही को जानौ वा देखौ। तहाँ इस जीव कै सर्व के देखने-जानने की शक्ति तौ द्रव्य अपेक्षा पाइये है। (द्रव्य योग्यता) अन्य काल विषै सामर्थ्य होय परंतु वर्तमान सामर्थ्य रूप नाहीं, जातै अपने विषयनि तैं अधिक विषयनि कौ देखि जानि सकै नाहीं। बहुरि अपने योग्य विषयनि कै देखने-जानने की पर्याय अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है जातै इनिकौ देखि-जानि सकै है (पर्याय योग्यता) बहुरि (उपयोगरूप) व्यक्तता एक कालविषै एक ही कौ देखने की वा जानने की पाइये है।'

एक इन्द्रिय-विषय को अपने उपयोग में लेते हुए चूँकि शेष इन्द्रियों सम्बन्धी क्षयोपशम उसी समय लब्धिरूप से मौजूद रहता है इसलिए अगले ही क्षण हम किसी अन्य इन्द्रिय या अनिन्द्रिय/मन के विषय को अपने उपयोग रूप कर लेते हैं। यह हम सभी के अनुभव की बात है कि इस प्रकार से उपयोग-परिवर्तन हम प्रतिक्षण करते रहते हैं और यह भी कि यह परिवर्तन हमारी रुचि, हमारे चुनाव अथवा हमारे पुरुषार्थ की ही अपेक्षा रखता है। इस प्रकार इस आगमानुसारी प्रतिपादन से स्पष्ट है कि जीव के ज्ञान-दर्शन की पर्यायें, चाहे वे उपयोगरूप हों, अथवा लब्धिरूप, दोनों ही रूपों में वे जीव की वर्तमान योग्यताएँ हैं अर्थात् पर्याय-योग्यताएँ।

8. कषायात्मक परिणामों सम्बन्धी अनेकानेक योग्यताएँ

हमारे कषायरूप परिणमन के बारे में भी वस्तु-स्थिति यह है कि अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न पर पदार्थों अथवा परिस्थितियों का अवलम्बन लेकर हम हर्ष-विषाद अथवा राग-द्वेषरूप से परिणमित होते रहते हैं। यदि हम स्थूलरूप से हिसाब लगाना चाहें तो -

1. पाँच इन्द्रिय और मन के विषयभूत भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल सम्बन्धी हजारों/लाखों चेतन-अचेतन पदार्थ; 2. क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष, नपुंसक-वेद; 3. हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह; 4. मन, वचन, काय; 5. कृत, कारित, अनुमोदना; 6. कषाय-नोकषाय की तरतमता (अर्थात् मन्द, मन्दतर, मन्दतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम) इत्यादि को परस्पर में गुणा करके करोड़ों/अरबों भंग बनेंगे, इस जीव के परिणामों के ! (जब इसी विषय को केवलज्ञानगम्य सूक्ष्मता से जाना जाता है तो आश्चर्य नहीं कि - असंख्याताऽसंख्यात भंग बनते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यदि ईमानदारी से विचार करेंगे तो पायेंगे कि हम सभी इनमें से अधिकांश विकल्प/परिणाम वर्तमान में करने में समर्थ हैं। हाँ, चुनाव हमारा अपना है। हम सावधान रहकर पर-पदार्थों में यथाशक्ति उदासीनवृत्ति अपना कर, अपने परिणामों की रक्षा भी कर सकते हैं।

ऊपर के विश्लेषण से सुस्पष्ट है कि ऐसा वस्तुतत्त्व कदापि नहीं है कि एक समय में एक ही प्रकार के परिणमन की योग्यता हो और फिर वही परिणमन होता हो। प्रत्युत एक समय में अनेक योग्यताएँ होते हुए भी जीव की रुचि/रुझान/

चुनाव/पुरुषार्थ के अनुसार एक ही परिणामन होता है। अतएव उस परिणामन का मुख्य नियामक पुरुषार्थ ठहरता है, न कि तथाकथित एक अकेली पर्याय-योग्यता !

9. एक अकेली पर्याय-योग्यता की कथित अवधारणा में

पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं !

किसी विवक्षित कार्य के सन्दर्भ में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं - उपादान और निमित्त, इतना तो सर्वमान्य है। यदि उपादान और निमित्त दोनों में अपनी-अपनी अनेक प्रकार की पर्याय-योग्यताएँ हों, तभी विवक्षित कार्य में पुरुषार्थ की भूमिका बनती है, अन्यथा नहीं। चूँकि किसी समय उपादान-द्रव्य, अपनी किसी एक पर्याय-योग्यता को प्रकट करने के लिए निमित्त-द्रव्य की अनेकों पर्याय-योग्यताओं में से निज-अनुकूल योग्यता का अवलम्बन लेकर परिणामन करे - यही तो उपादान-द्रव्य का पुरुषार्थ है। इसके विपरीत यदि उपादान-द्रव्य में एक समय में मात्र एक ही पर्याय योग्यता हो और निमित्त-द्रव्य में भी उस समय में मात्र एक ही प्रकार की उपादान-अनुकूल पर्याय-योग्यता हो, तब फिर पुरुषार्थ को किसी भी प्रकार का अवकाश ही कहाँ रहा? ऐसी पुरुषार्थ-निरपेक्ष कार्य-व्यवस्था कोरा-नियतिवाद नहीं तो और क्या है?

10. आचार्यों के उपदेश की सार्थकता और नियतिवादियों की

मान्यता में विरोध

उपादान-पदार्थ को एक निश्चित, नियत-योग्यता के अनुरूप परिणामन करना है और उसी के अनुकूल योग्यता वाला निमित्त-पदार्थ वहाँ उपस्थित रहता है। यदि ऐसा माना जाता है तो परमागम में भगवान/आचार्यों द्वारा दिया गया उपदेश निरर्थक हो जायेगा कि - 'हे जीव ! तू पर से उपयोग हटाकर, निजात्मा के सम्मुख कर। मिथ्यात्व और अविरतिरूप परिणामों का त्याग करके, तू सम्यक्त्व एवं संयम को ग्रहण कर।' क्योंकि यदि किसी समय-सम्बन्धी केवल एक पर्याय-योग्यता निश्चित है तो जीवरूपी उपादान के अपने चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार तो उस जीव-वस्तु का स्वभाव भी निश्चित ठहरा, निमित्त भी निश्चित ठहरा, पुरुषार्थ भी निश्चित ठहरा, कार्य (भवितव्यता) यदि ऐसे ही समझा-समझाया जाता है, कार्य-व्यवस्था में पाँच हेतुओं के समवाय को यदि इसी प्रकार घटाया जाता है तो इससे पृथक् 'एकान्त नियतिवाद' फिर क्या है ?

इसमें पुरुषार्थवाद अथवा सम्यक्-अनियतिवाद की सापेक्षता कैसे घटित होगी ?

यदि यह कहा जाये कि पुरुषार्थपूर्वक नियति को मानना सही है, जबकि पुरुषार्थरहित नियति को मानना एकान्तवाद है। तो इसका उत्तर इस प्रकार होगा - 'जब आपने एक अकेली पर्याय-योग्यता को ही परिणामन का नियामक मान लिया, तब आपकी मान्यता में तो पुरुषार्थ भी नियत हो गया। आपने तो पुरुषार्थ और नियति का अन्तर ही मिटा दिया। इन दो भिन्न शब्दों का प्रयोग आप भले ही करें, परन्तु इन शब्दों से जुड़ी दो भिन्न-भिन्न अवधारणाओं (Concept) को तो आपने अपने निरूपण में एक ही कर डाला - यही तो एकान्तवाद है।

इसलिए सभी तत्त्व-जिज्ञासुओं को भली-भाँति निर्णय करके उक्त मिथ्या मान्यता का निरसन करना चाहिए, अन्यथा शास्त्रों का उपदेश निरर्थक हो जायेगा।

11. केवलज्ञान में वस्तु के परिणामन का झलकना उसके वैसे परिणामन का कारण नहीं है।

संसारमार्ग और मोक्षमार्ग, दोनों ही रूप का परिणामन इस जीव नामक वस्तु की अपनी अपेक्षा से है। किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ का परिणामन, केवलज्ञान के आधीन नहीं है। जितने भी लोक में पदार्थ हैं, उन सबका केवलज्ञान के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। जो लोग यह मानते हैं कि - 'केवलज्ञान में झलका, इसलिए वस्तु का वैसा ही परिणामन होगा' वे उस वस्तु और केवलज्ञान के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध मानते हैं। उनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के बजाय मारण-कार्य सम्बन्ध मानना, सही नहीं है, मिथ्या है। सम्यक् वस्तु-स्थिति यह है कि उपादान वस्तु, जैसा परिणामन करेगी, वैसा केवलज्ञान का ज्ञेय होगा, अथवा हुआ है - यही ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

केवलज्ञान में तीन लोक के पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायें झलकी हैं, यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, वस्तुतः व्यवहारदृष्टि का विषय है, क्योंकि केवलज्ञान, ज्ञेय-वस्तुओं के लिए 'पर' है और 'पराश्रितो व्यवहारः' - ऐसा आगम-वाक्य है। दूसरी ओर उपादान-वस्तु और उसकी पर्याय में जो कारण-कार्य सम्बन्ध है, यह वस्तु-परक सम्बन्ध स्वाश्रित होने से निश्चयदृष्टि का विषय है। केवलज्ञान हमारे लिए मात्र श्रद्धा का विषय है, जबकि निज उपादान आधारित कारण-कार्य भाव का आश्रय लेकर दूसरे शब्दों में निज श्रुतज्ञान का आश्रय लेकर, हमें अपनी

परिणति को सुधारने के लिए आगम में दिये गये उपदेश का अनुसरण करते हुए प्रवृत्तिरूप मार्ग को अपनाना है।

12. उपसंहार

मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की प्रधानता है - यह एक निर्विवाद सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर पण्डित टोडरमलजी के उद्धरण द्वारा समझ आये हैं; इसलिए सभी साधकों को अपने कल्याण के लिए पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिए। फिर भी जो लोग नियति अथवा काल-नियम आदि को मुख्य समझते हैं, उन्हें आचार्य अकलंकदेव का यह कथन हृदयंगम करना चाहिए।

शंका : भव्य जीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायेगा ?

समाधान : भव्यों की कर्म-निर्जरा का कोई काल निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही कोई काल-नियत है। ... यदि काल ही सब का कारण मान लिया जाये तो बाह्य और अभ्यंतर कारण-सामग्री का ही लोप हो जायेगा।

(राजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 3, वार्तिक 7-10)

(1) श्री बाबूलालजी जैन (कलकत्ता वाले) नई दिल्ली के लेख- 'नियति बनाम पुरुषार्थ' की समालोचना

ब्र. हेमचन्द्र जैन (देवलाली) दि. 18.10.2006

(आदरणीय श्री बाबूलालजी एक ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, व्रती विद्वान हैं। उन्होंने 'अध्यात्मयोगी राम' आदि अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। उनकी 'स्वानुभव' एवं 'जैनधर्म' नामक लघु पुस्तकें अध्यात्म प्रेमी जगत में बहुत ही समादृत हुई हैं। उनकी 'जैनधर्म' (परमात्मा होने का विज्ञान) पुस्तिका का मैंने अंग्रेजी में भी अनुवाद किया है। जो उन्होंने अपने ही ट्रस्ट से छपवाकर, बिना मूल्य जिज्ञासु बन्धुओं में वितरित की है। वे दीर्घायु हों - इस पवित्र भावना के साथ उनके एक लेख 'नियति बनाम पुरुषार्थ' पर मैंने काफी ऊहापोह कर कुछ विवेचना की है, वह यहाँ प्रस्तुत है।)

लेखक के अभिप्राय से ऐसा विदित होता है कि वे कार्योत्पत्ति में पाँच समवायों को स्वीकार करते हुए भी पुरुषार्थ को मुख्य करते हैं, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय विचारवान् जीवों के लिए योग्य ही कहा जायेगा /कहा भी है; तथापि उनका ऐसा मानना कि-पदार्थ में/द्रव्य में पड़ी अनेक प्रकार की योग्यताओं में से यह जीव जिस पर्याय-योग्यता को प्रगट करना चाहता है, उसका चुनाव कर, तदनुकूल निमित्तों का आश्रय लेकर (उपयोग को उसमें जोड़कर) वही पर्याय-योग्यता प्रगट कर सकता है, अत्यन्त विचारणीय है।

उनकी मान्यतानुसार मिट्टी के पिण्डवाला परमाणु, जिसमें घड़ा, सुराही, सकोरा, तौला, प्याला, गिलास इत्यादि अनेक परिणमनों की संभावनाएँ मौजूद हैं, कुम्हार की इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि जैसी बाह्य सामग्री मिलती है, तदनुसार अमुक पर्याय प्रगट हो जाती है। इतना ही नहीं, वही मिट्टी यदि कुम्हार द्वारा न लायी जाती और खेत में ही पड़ी रहती तो वह विशिष्ट परमाणु किसी पौधे के रूप में परिणम सकता था, अथवा ईंट बनकर किसी भवन के रूप में भी व्यक्त हो सकता था तथा उसमें घड़े आदि रूप परिणमने की योग्यता तो है, किन्तु पट (वस्त्र/कपड़े) रूप होने की पर्याय-योग्यता का अभाव है; उसी प्रकार इस जीव में भी (अमुक गतिरूप पर्याय में) जो असंख्यातों प्रकार से परिणमने की

योग्यताओं रूप संभावनाओं से भरा पड़ा है, उसमें से कौनसी पर्याय वर्तमान में प्रगट करें, यह उनकी मर्जी पर आधारित है तथा यह इस बात पर निर्भर है कि वह अपने उपयोग में से किस पदार्थ का अवलम्बन (अपने चुनाव के अनुसार) लेता है।

इस प्रकार की मान्यता, सर्वज्ञता के लिए एक प्रकार से चुनौती ही है, क्योंकि वे (सर्वज्ञ) जाने कुछ और यह करे कुछ! फिर भी मुझे सर्वज्ञता की ओट में पुरुषार्थ को उड़ा देनेवाला व्यक्ति न समझा जाए तब ही जिनागम की इस गम्भीर विवेचना का रहस्य समझ में आएगा, अन्यथा नहीं।

लेखक महोदय की मान्यतानुसार 'ऐसा वस्तुतत्त्व कदापि नहीं है, कि एक समय में एक ही प्रकार के परिणमन की योग्यता हो और फिर वही परिणमन होता हो। प्रत्युत एक समय में अनेक योग्यताएँ होते हुए भी जीव की रुचि/रुझान/चुनाव/पुरुषार्थ के अनुसार वांछित एक ही परिणमन होता है; अतएव उस परिणमन का मुख्य नियामक पुरुषार्थ ठहरता है, न कि तथाकथित एक अकेली पर्याय-योग्यता।'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्वज्ञ अपनी वर्तमान केवलज्ञान पर्याय में भविष्य में संसारी जीवों की इच्छानुसार होने वाली भविष्यकालीन पर्यायों को या तो सर्वथा ही नहीं जानते या अस्पष्टरूप से कुछ-कुछ स्थूल पर्यायों को ही जानते होंगे या जब वे वर्तमानरूप में प्रगट होंगी, तभी जान सकेंगे? क्या यह सर्वज्ञ का स्वरूप हो सकता है?

यद्यपि यह सत्य है कि केवलज्ञान में वस्तु के परिणमन का झलकना, उसके वैसे परिणमन का कारण नहीं है, वह तो वस्तु के परिणमन का ज्ञापक निमित्त मात्र है; तथापि केवलज्ञान की त्रिकालज्ञता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अरे, जिन अरिहंत प्रभु के भामण्डल में भव्य जीव अपने पिछले तीन भव, अगले तीन भव, तथा वर्तमान भव - कुल सात भव एक साथ देख लेते हैं, उन केवली प्रभु को भविष्यज्ञ नहीं मानना स्पष्टरूप से केवली का अवर्णवाद है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव केवली, श्रुतकेवली भगवंतों के अनुसार प्रवचनसार गाथा 39 में स्पष्ट रूप से कह रहे हैं -

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेति ॥३९॥

अर्थ - यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूतकाल की) पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा?

इसीप्रकार 'सर्वद्रव्यपर्यायिषु केवलस्य' - इस सूत्र का क्या अर्थ होगा?

वस्तुतः संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जो विचारवान् हैं, उन्हें यह उपदेश है कि वे निमित्त, होनहार, कालादि समवायों के भरोसे न रहकर बुद्धिपूर्वक जिनोपदिष्ट तत्त्वों का निर्णय कर अपना श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र सम्यक् करें जो मुक्ति का कारण है। अर्थात् पुरुषार्थरत रहें, परन्तु अभिप्राय ऐसा रखें कि पाँचों समवाय मिलने पर ही कार्य निष्पन्न होता है।

- ब्र. हेमचंद्र जैन 'हेम'

नियति बनाम पुरुषार्थ : सम्यक् चर्चा

मोक्षोपाय क्या है?

सर्वज्ञदेव ने जो मुक्ति की युक्ति अर्थात् मोक्ष का उपाय कहा है, उससे मोक्ष होता ही है, इसलिए जो भव्य जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक विचारवान्) अपने पुरुषार्थ से वीतरागी सर्वज्ञदेव जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार तत्त्वनिर्णय करता है, उसमें अपनी बुद्धि को गिरवी रखे बिना परीक्षा-प्रधानी होकर उपयोग को लगाता है, तत्त्वाभ्यासरत रहता है, उसके अन्तरंग विशुद्धि की वृद्धि होती रहती है, उससे दर्शनमोहनीयादि कर्मों की शक्ति हीन होती जाती है और कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम हो जाता है; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति स्वानुभूति-पूर्वक प्रगट हो जाती है।

अतः हम-आपका कर्तव्य तो तत्त्व-निर्णय का अभ्यास ही है, उसी से मोह का उपशम स्वयमेव हो जाएगा, उसमें हमारा (जीव का) कर्तव्य कुछ नहीं है; उसके होने पर स्वयमेव सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। जिसके होने पर ऐसा श्रद्धान उदित हो जाता है तथा प्रतीतिरूप सदैव वर्तता रहता है कि - 'मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादि नहीं करना' तथापि चारित्रमोहोदयवश रागादि अभी होंगे। उनके क्षयार्थ यह जीव अपने ही पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में, वैराग्यवर्धक भावनाओं में उपयोग को लगाता है, इसके निमित्त से चारित्रमोह मन्द होता जाता है और उससे देशसंयम-सकलसंयम ग्रहण कर, अपने अन्तरंग पुरुषार्थ से वीतरागभावरूप धर्म-परिणति को बढ़ाता जाता है।

अन्तरंग पुरुषार्थ अर्थात् शुद्धोपयोगरूप निज-स्वभाव-साधन द्वारा स्वरूप-स्थिरतारूप स्वरूपाचरणचारित्र किंवा वीतराग-चारित्र प्रगट हो जाने से चारित्रमोह भी नाश को प्राप्त हो जाता है और यथाख्यात-चारित्र प्रगट होता है। तब परिणामों की विशुद्धि-विशेष के बल से ज्ञानावरणादि व शेष तीन घातिकर्मों का स्वयमेव क्षय हो जाता है और अनन्त चतुष्टययुक्त केवलज्ञान सूर्य प्रगट हो जाता है। पश्चात् वहाँ अरिहंत अवस्था में बिना उपाय स्वयमेव (अन्तिम दो शुक्लध्यानपूर्वक) अघातिकर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर उनका भी नाश हो जाने पर शुद्ध सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में 'पुरुषार्थ से ही मोक्ष की प्राप्ति' प्रकरण में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने स्पष्टरूप से यह सिद्ध किया है कि तत्त्वनिर्णय का पुरुषार्थ

प्रथम होना चाहिए। यदि विचार-शक्तिवाला मन्दकषायी जीव, तत्त्व-निर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये- या तो मन्दरागादि सहित विषय-कषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहार धर्मकार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

आगे फिर मोक्ष के उपाय के कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ.313 पर लिखा है -

'वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं - (1) कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता और जिनके होने पर कार्य हो भी या न भी हो। जैसे, मुनिलिंग धारण किये बिना मोक्ष नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है या नहीं भी होता।

(2) कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यता तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी के वे बिना हुए भी कार्य-सिद्धि होती है। जैसे, अनशनादि बाह्य तप का साधन करने पर मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करते हैं, परन्तु भरतादिक के बाह्य तप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई।

(3) कितने ही कारण ऐसे हैं, जिनके होने पर कार्य-सिद्धि होती ही होती है और जिनके न होने पर सर्वथा कार्य-सिद्धि नहीं होती। जैसे, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही होता है और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

ऐसे यह तीन कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव, सो मोक्षमार्ग जानना। इन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता।'

इस कथन का फलितार्थ या निष्कर्ष यह निकलता है कि कार्योत्पत्ति में/एक कार्य के होने में अनेक कारण मिलते हैं और वे आचार्य सिद्धसेन विरचित ग्रन्थ 'सन्मतिसूत्र' के अनुसार पाँच हैं।

कालो सहाव गियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।

मिच्छंतं ते चव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥३/५३ ॥

अर्थात् स्वभाव (उपादान), निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि और नियति/भवितव्यता यदि इनमें से किसी एक कारण से ही कार्योत्पत्ति मानी जाये तो वह मान्यता मिथ्या है, तथापि मुख्य-गौण विवक्षा से किसी एक कारण को प्रयोजनवश

मुख्य करके कथन किया जाये तो वह मान्यता मिथ्या न होकर सम्यक् एकान्त कहलायेगी।

जैसा कि पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा है-

‘पद-स्वभाव पूरब-उदय, निहचै उद्यम काल।

पक्षपात मिथ्यात्व जुत, सरवंगी शिव-चाल ॥’

पुनश्च, उक्त पाँच कारणों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं - एक बुद्धिपूर्वक कारण और एक अबुद्धिपूर्वक कारण। इनमें पुरुषार्थ (उद्यम) ही एकमात्र कारण, बुद्धिपूर्वक कर्तव्यणीय जान पड़ता है, शेष चारों कारण अबुद्धिपूर्वक की श्रेणी में रखे जायेंगे; अतः मोक्ष के उपाय में प्रथम बुद्धिपूर्वक - आगम का सेवन, युक्ति (प्रमाण-नय-निक्षेप) का अवलम्बन एवं साक्षात् ज्ञानियों की देशना (उपदेश-श्रवण) द्वारा तत्त्व-विचारपूर्वक तत्त्व-निर्णय करना चाहिए और तत्त्व-निर्णय होने पर जब स्व-पर भेद-विज्ञान मूलक प्रतीति स्वानुभव प्रत्यक्षरूप निःशंकता अपने में आ जाये, तब बुद्धिपूर्वक यथाशक्ति, यथापदवी निःशल्य हो, चरणानुयोगसम्मत व्रतादि व्यवहार-चारित्र अंगीकार कर, सम्यक्त्वाचरणरूप स्वरूपाचरण-चारित्र प्रगट करना चाहिए अर्थात् निज शुद्धात्मा में लीनता (स्थिरता) रूप निश्चय चारित्र प्रगट करना चाहिए। यह दो कार्य - तत्त्वनिर्णय एवं व्रताचरणबुद्धिपूर्वक कर्तव्यणीय आगम में कहे हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इसे मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 261 पर इस प्रकार कहा है - ‘किसी को तत्त्व-विचार होने के पश्चात् तत्त्व-प्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ और व्यवहार-धर्म की प्रतीति/रुचि हो गयी, इसलिए देवादिक की प्रतीति करता है व व्रत-तप को अंगीकार करता है। किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप, सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं और पहले-पीछे भी होते हैं। देवादिक की प्रतीति का तो नियम है, उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता। व्रतादिक का नियम है नहीं। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व हो पश्चात् ही व्रतादिक को धारण करते हैं। किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं।

इस प्रकार यह तत्त्व-विचारवाला जीव, सम्यक्त्व का अधिकारी है; उसे सम्यक्त्व हो ही हो - ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि शास्त्र में सम्यक्त्व होने से पूर्व पंच-लब्धियों का होना कहा है। तथा पाँचवीं करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व

हो ही हो - ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य) चार लब्धियाँ तो हुई हो और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो, उसी जीव के करणलब्धि होती है।’

द्रव्यानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण करते हुए उन्होंने आगे पृष्ठ 293 पर लिखा है -

‘जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में द्रव्यानुयोग ही कार्यकारी है। गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं; इसलिए ऊँची दशावालों को अध्यात्म अभ्यास योग्य है - ऐसा जानकर, निचली दशा वालों को वहाँ से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।’

इस नर-पर्याय में जो जीव, निरन्तर तत्त्वाभ्यास करता है, यदि वह परभव में (कर्मबन्ध-विशेष के कारण) तिर्यञ्चादि गति में भी जाये तो वहाँ वह पूर्व संस्कार के बल से देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त बिना भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उक्त तत्त्वाभ्यास के बल से मिथ्यात्वकर्म का अनुभाग हीन हो जाता है और वहाँ उसका उदय न हो, वहीं सम्यक्त्व हो जाता है; सो मूल कारण मिथ्यात्व-कर्म है। उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाये, न मिटे तो नहीं हो - ऐसा नियम है।

इसका बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ तो तत्त्वविचार, तत्त्वनिर्णय करना मात्र ही है तथा पाँचवीं करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व हो ही हो - ऐसा नियम है। इस पंचम करणलब्धिवाले जीव के इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्व-विचार में (निज-ध्रुव-चिदानन्दात्मा में) उपयोग को तद्रूप होकर लगायें, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं और अनिवृत्तिकरण के अन्त समय के अनन्तर मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से ‘प्रथमोपशम सम्यक्त्व’ की प्राप्ति होती है। यह क्षायिकवत् निर्मल होता है, तथापि इसके प्रतिपक्षी कर्म (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति) की अन्दर सत्ता पायी जाती है, इसलिए अन्तर्मुहूर्तकाल मात्र यह सम्यक्त्व रहता है। पश्चात् दर्शनमोह की तीन

में से कोई एक प्रकृति का उदय आता है और तदनुसार सर्वघाति मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि (प्रथम गुणस्थानवर्ती), मिश्र-मोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व) के उदय से मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि (तृतीय गुणस्थानवर्ती) अथवा देशघाति सम्यक्त्व-मोहनीय के उदय से वह समल तत्त्वार्थ श्रद्धानी क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती) हो जाता है अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय के चार भेदों में से किस उदय से सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त होता है।

यद्यपि तारतम्य से यह तो केवलज्ञान में ही भासित होता है कि 'इस समय श्रद्धान है अथवा नहीं है' क्योंकि उसका मूल कारण मिथ्यात्वकर्म है। उसका उदय हो, तब तो अन्य विचारादि कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक्श्रद्धान का अभाव हो जाता है और उसका उदय न हो, तब भी अन्य कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक्श्रद्धान हो जाता है।

जो जीव, सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट हो जाता है, उसकी दशा विशेष कालान्तर में अनादि मिथ्यादृष्टि जैसी हो जाती है। जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट होता है, वह उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व से गिरकर होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, कभी भी सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं होता। सम्यक्त्व से भ्रष्ट जीव को सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यदि उस सादि मिथ्यादृष्टि के थोड़े काल मिथ्यात्व का उदय रहे तो बाह्य जैनीपना भी नष्ट नहीं होता। तत्त्वों का अश्रद्धान भी व्यक्त नहीं होता व विचार किये बिना ही तथा उसे थोड़े विचार से ही पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तथा यदि बहुत काल तक मिथ्यात्व का उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टि की दशा होती है, वैसी दशा इसकी भी हो जाती है, गृहीत मिथ्यादृष्टि तक हो जाता है और उत्कृष्ट किंचित् न्यून अर्ध-पुद्गल-परावर्तनकाल पर्यन्त संसार में रुलता है, निगोदादि में भी रुलता है; इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है। सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल कारण मिथ्यात्व ही है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।

चारित्रमोहोदयजन्य जो शुभाशुभभावरूप राग होता है, वह मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु उस राग (रोग) को हितकारी (उपादेय) मानना ही मिथ्यात्व है। जैसे अल्प रोग भी निरोगता का कारण नहीं होता, वैसे ही प्रशस्त शुभरागभाव से भी वीतरागरूप धर्म नहीं होता। पहले ही वह शुभराग, सहचर या पूर्वचररूप से या

निमित्तरूप से विद्यमान रहता हो तथापि जैसे सर्व प्रकार का मन्द-तीव्ररोग, निरोगता का कारण न होने से सर्वथा हेय ही होता है; उसी प्रकार श्रद्धा-दृष्टि की अपेक्षा मन्द (प्रशस्त) राग भी वीतरागता का कारण न होने से सर्वथा हेय ही होता है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि उसे अभिप्राय में उपादेय मानता है, इससे उसके व्यवहार-व्रतसंयमादिरूप (शुभरागरूप) परिणाम निश्चय वीतरागरूप चारित्र के निमित्तकारण नहीं बनते, जबकि सम्यग्दृष्टि जीव के व्यवहार-व्रतसंयमादिरूप परिणाम नियम से निश्चय वीतरागरूप चारित्र के अनुकूल निमित्त-कारण बन जाते हैं।

बिना द्रव्यसंयम धारण किये सम्यग्दृष्टि का भी गुणस्थान-आरोहण नहीं होता अर्थात् द्रव्यसंयमरूप व्यवहार-व्रत ग्रहण करनेवाला सम्यग्दृष्टि ही चतुर्थ गुणस्थान से पंचम और पंचम से सप्तम गुणस्थान में पहुँच सकता है। इसप्रकार बिना व्रत धारण किये सम्यग्दृष्टि भी गुणस्थान नहीं चढ़ सकता; इसलिए इन व्रतों को (सरागचारित्र को) अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके, इनको चारित्र कहा है।

कदाचित् कोई सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि, जिसे सर्वज्ञकथित तत्त्वार्थों का यथार्थ निर्णय, निःशंकपने सविकल्प श्रुतज्ञान में हुआ हो और बाह्य में निर्दोष अणुव्रत या महाव्रतादि का पालन करता हो तो उसे भी करणानुयोगापेक्षा यथापदवी क्रमशः चतुर्थ, पंचम या सप्तम गुणस्थान की भी प्राप्ति हो सकती है और उसे भी मिथ्यात्व (दर्शनमोह) के अभाव के साथ क्रमशः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यान, क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय एवं तदनुकूल द्रव्यकर्मों का अभाव उदयाभावी क्षय/क्षयोपशम होने पर ही उन-उन गुणस्थानों की (उतनी-उतनी वीतरागता की) प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

उक्त तात्त्विक विवेचन से स्पष्ट है कि न तो अकेले पुरुषार्थ से कार्यसिद्धि/कार्योत्पत्ति होती है और न अकेले दैव से/भाग्य से/कर्मादि निमित्तों से होती है; फिर भी बुद्धिपूर्वक हमें उन सम्यग्दर्शनादि कारणों को प्रगट करने का सच्चा पुरुषार्थ करते ही रहना चाहिए कि जिनके होने पर मोक्षरूप कार्य की सिद्धि होती है तथा अन्तरंग में यह श्रद्धान भी बना रहना चाहिए कि काललब्धि, भवितव्य, मोहादि का उपशमादिरूप अन्य अबुद्धिपूर्वक दैव-योग आदि कारणों के मिलने पर ही कार्यसिद्धि होगी। इससे किसी प्रकार की चिन्ता या विकल्परूप आकुलता उत्पन्न नहीं होगी कि मैंने पुरुषार्थ तो किया, फिर भी कार्य क्यों नहीं हुआ? क्योंकि

अन्तरंग में यह भी श्रद्धान होना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जिस नियत क्षण में जो नियत कार्य होना झलका है, वह उस क्षण के आगे-पीछे अनियत क्षण में नहीं हो सकता।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति, अपने नियत जन्मक्षण में ही हुआ करती है। (देखो, प्रवचनसार, गाथा 99-102) प्रत्येक मुमुक्षु को आप्तमीमांसा ग्रन्थ के माध्यम से सर्वप्रथम सर्वज्ञ की सिद्धि कर, फिर उसमें वर्णित मिथ्या-एकान्तों का संक्षिप्त सम्यक् स्वरूप भी जानना चाहिए और अपनी मिथ्यारूप एकान्त मान्यता को छोड़ देना चाहिए।

यदि कोई ऐसा कुतर्क करे कि गेहूँ में जो (आटा, दलिया, मैदा, रोटी, पुड़ी, हलवा आदि) अनेक पर्यायरूप परिणमने की योग्यता विद्यमान है, उसमें से हमें उसकी जो पर्याय अभीष्ट है, उस क्षणविशेष में हम वही पर्याय अपने पुरुषार्थ विशेष से प्रगट कर लेंगे, तो विचारना कि उसने सर्वज्ञ को माना या नहीं माना? क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में यदि गेहूँ की उस क्षणविशेष में थुली (दलिया) रूप पर्याय झलकी है, तो क्या यह असर्वज्ञ व्यक्ति, अपने पुरुषार्थ से उसे पुड़ी आदि रूप पर्याय में परिणमन करा सकता है? केवलज्ञान का स्वरूप तो 'सर्वद्रव्यपर्यायिषु केवलस्य' - ऐसा कहा है तथा आप्तमीमांसा व उसकी टीकाओं में भी स्पष्टरूप से लिखा है -

सूक्ष्माऽन्तरित-दूराऽर्थाः प्रत्यक्षः-कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः॥११॥

अर्थात् (1) सूक्ष्म पदार्थ - परमाणु आदि (2) अन्तरित पदार्थ- काल से अन्तर को लिए हुए- राम-रावण आदि या भविष्य में होनेवाले तीर्थकरादि और (3) दूरवर्ती पदार्थ - क्षेत्र से अन्तर को लिए हुए मेरू, हिमवन पर्वतादि (हमारे अनुमान प्रमाण का विषय) होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं। जैसे, अग्नि आदि पदार्थ जो धुआँ आदि देखकर हमारे अनुमान-प्रमाण-ज्ञान का विषय बनते हैं तो वे किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, वे सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ की सम्यक् स्थिति, व्यवस्था, सिद्धि, भले प्रकार सुघटित है।

यद्यपि रागी विकल्पबुद्धिवाला जीव, अपने मनोनुकूल (पर्याय) प्रगट करने का उल्टा-सुल्टा तथाकथित पुरुषार्थ करता ही है, क्योंकि उसे नहीं पता है कि अगले क्षणों में क्या होगा? तथापि जो तत्त्वज्ञानी होता है, जिसे सर्वज्ञ की एवं सर्वज्ञकथित तत्त्वार्थों की श्रद्धा प्रगट होता है, उसे कभी भी ऐसा मिथ्या-अभिप्रायवाला परिणाम

उत्पन्न नहीं होता कि - 'ऐसा क्यों हुआ, वैसा क्यों नहीं हुआ?' क्योंकि वह जानता है कि 'अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न, अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती; उन्हें परिणमित कराना चाहे वह कोई उपाय नहीं है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है तथा उन्हें यथार्थ (जैसा पदार्थों का स्वरूप है वैसा) मानना और यह (मेरे राग-विकल्प के अनुसार) परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे - ऐसा मानना, सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है।' (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 52)

स्वयं परिणमती वस्तु का कर्ता बनना कि मेरे परिणमाने से यह इस रूप परिणामी है, यह प्रगट मिथ्यात्व ही है, क्योंकि कभी भी कोई द्रव्य अपने से भिन्न अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्ता होता ही नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी दो द्रव्यों की वर्तमान पर्याय मात्र में ही होता है, वह भी कोई कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को कर्ता-कर्म सम्बन्ध मानना भी मिथ्यात्व ही है। परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने समयसार ग्रन्थाधिराज के कर्ता-कर्म अधिकार में (गाथा 116-120 तथा 121-125 तक में) यही तो सिद्ध किया है कि सर्व द्रव्य परिणमन-स्वभाववाले हैं। इसलिए वे अपने-अपने भाव के स्वयं ही कर्ता हैं।

कर्मोदय से जीव, क्रोधादि-विकाररूप परिणमता है और उससे पुनः कर्मबन्ध होता है। इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ तो यह सिद्ध किया है कि, पुद्गलद्रव्य भी स्वयं परिणमनस्वभावी होने से अपने जिस भाव को करता है, उसका वह स्वयं ही कर्ता है। इसी प्रकार जीवद्रव्य भी स्वयं परिणमन-स्वभावी है। जब इसका उपयोग क्रोधादि रूप परिणमता है, तब स्वयं क्रोधादिरूप होता है अर्थात् जिस भावरूप परिणमता है, वह उसका कर्ता होता है।

इन्ही गाथाओं की 'आत्मख्याति' टीका में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने जिनागम के दो महान शाश्वत सिद्धान्त सूत्र दिये हैं - (1) *न हि स्वतोऽसति शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते* अर्थात् वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि (2) *न हि वस्तुशक्त्यः परमपेक्षन्ते* अर्थात् वस्तु की शक्तियाँ (अपने परिणमन के लिए) पर की अपेक्षा नहीं रखती - यह दो तथ्य जिसके हृदय में बैठ जाते हैं,

समझ में आ जाते हैं, फिर उसे मैं पर का कुछ करूँ, या पर मेरा कुछ बिगाड़-सुधार सकता है - ऐसा खोटा अभिप्राय तत्क्षण निराकृत हो जाता है। वह स्वप्न में भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को (द्रव्यकर्म से भावकर्म एवं भावकर्म से द्रव्यकर्मवाले अविनाभाव सम्बन्ध को) कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं मान सकता।

पर का अकर्ता और अपने परिणाम का कर्ता होना तो प्रत्येक द्रव्य का स्वयंसिद्ध स्वभाव है, क्योंकि व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध तत्स्वरूप (अपने ही द्रव्य में) होता है, अतः पर में तो इसे कुछ करने का प्रश्न ही नहीं रहता और निज में भी कुछ करने का नहीं रहता है, मात्र जो भाव हो, उसे जाननेवाला ही रहता है और उसे भी जानने का बोझ-भार, ज्ञान में कहाँ है, वह तो सहज ही प्रतिभासित होता रहता है। वस्तुतः कर्तृत्व-बुद्धि का भ्रम टूटे बिना मिथ्यात्व का अभाव हो ही नहीं सकता।

अब जरा राग-परिणाम का स्वरूप देखो; वह राग, चाहे ज्ञानी का हो या अज्ञानी का, उसका स्वरूप तो करने-धरने के विकल्पों में फँसाना ही है और आकुलता पैदा करना ही है; इसीलिए विवेकियों को उस रागरूप विकल्प के शमन के लिए बुद्धिपूर्वक इतना ही उपदेश है कि अशुभ (पाप) राग में जाना नहीं, शुभ (पुण्य) राग को निश्चय धर्म मानना नहीं और जब तक शुद्धोपयोग दशा प्रगत न हो, तब तक अशुभ से बचने के लिए देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, उपासना, तत्त्व-विचार, स्वाध्याय, व्रत, जप-तपरूप शुभ भावों में मन (उपयोग) को लगाना। परमार्थतः स्वरूप-स्थिरता का पुरुषार्थ ही पुरुषार्थ कहलाता है, बाकी शुभाचरणादि उसका उपचार मात्र है।

स्वामी समन्तभद्राचार्यदेव ने आप्तमीमांसा ग्रन्थ में श्लोक 88-91 में एकान्त दैव से या एकान्त पौरुष (पुरुषार्थ) से कार्य-सिद्धि की सदोषता तथा उभय एकान्तों की एकात्म्यता की सदोषता दर्शाते हुए दैव व पुरुषार्थ - इन दोनों की सापेक्षता से कार्य-सिद्धि होने की निर्दोष विधि समझायी है, जो इस प्रकार है -

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम्?।

दैवतश्चेदनिर्दोषः, पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ 88 ॥

अर्थ - यदि दैव (भाग्य) से ही सम्पूर्ण प्रयोजनरूप कार्य की सिद्धि होती हो तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? और फिर दैवरूप कार्य की सिद्धि पौरुष से कैसे कही जा सकती है? नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह कहना बाधित होता है कि सर्व अर्थ की सिद्धि दैव से ही होती है।' यदि पौरुष से दैव की सिद्धि न

मानकर दैवान्तर से दैव की सिद्धि मानी जाये तो फिर मोक्ष का अभाव ठहरता है अर्थात् दैव से ही मोक्ष प्रतिबन्ध हुआ करे तो मुक्ति के लिए क्रियमाण पुरुषार्थ निष्फल (व्यर्थ) हो जाएगा।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्, पौरुषं दैवतः कथम्?।

पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्व-प्राणिषु पौरुषम् ॥ 89 ॥

अर्थ - यदि पौरुष से ही सब कुछ कार्य सिद्धि का एकान्त माना जाये तो फिर पौरुष रूप कार्य की सिद्धि कैसे/किससे कही जाये? यदि दैव से पौरुष की सिद्धि मानी जाये तो फिर एकान्त पौरुष से कार्य की सिद्धि मानना गलत ठहरेगा? और यदि बुद्धि-व्यवसायात्मक पौरुष की सिद्धि को पौरुष से ही माना जाये तो सब प्राणियों में पौरुष एकान्त अमोघ (अव्यर्थ) ठहरेगा अर्थात् निश्चितरूप से (बाधक-कारणान्तर के न होने से) सफलता प्रदायक सिद्ध होगा, किसी का भी पौरुष निष्फल नहीं जायेगा, परन्तु यह तो प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, क्योंकि समान पुरुषार्थ करनेवालों के भी एक का पुरुषार्थ सफल और दूसरे का निष्फल होता देखा जाता है।

इसी प्रकार उभय - दैव और पौरुष दोनों एकान्तों का एकात्म्य नहीं बनता क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है तथा इन दोनों एकान्तों की अवाच्यता (अवक्तव्यता) का एकान्त मानने पर इन्हें अवाच्य (अवक्तव्य) कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि स्व-वचन विरोध घटित होता है। अब दैव-पुरुषार्थ एकान्तों की निर्दोष विधि क्या है? वह बतलाते हैं -

अबुद्धिपूर्वाऽपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ 91 ॥

अर्थ - जो इष्ट या अनिष्ट कार्य, अपने बुद्धि-व्यापार की अपेक्षा रखे बिना ही घटित अथवा उपस्थित होता है, उसे स्वदैवकृत समझना चाहिए। (क्योंकि उसमें पौरुष गौण और दैव प्रधान है।) और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अपने बुद्धि-व्यापार की अपेक्षा रखकर घटित अथवा उपस्थित होता है, उसे स्वपौरुषकृत समझना चाहिए। (क्योंकि उसमें दैव गौण और पौरुष प्रधान है।)

उक्त कथन का सार यही है कि दैव और पुरुषार्थ, दोनों की व्यवस्था एक दूसरे की अपेक्षा को साथ में लिए हुए हैं, एक के अभाव में दूसरे की व्यवस्था नहीं बनती। वस्तुतः कार्यसिद्धि दोनों के संयोग से ही होती है, अन्यथा वह नहीं बनती। अतः दोनों में से किसी का भी एकान्त सही नहीं है; अतः स्याद्वाद नीति

से युक्त अनेकान्त दृष्टि ही सर्व विवादों/विरोधों का एक मात्र हल है। यद्यपि सफलता पुरुषार्थ की चेरी(दासी) कही जाती है, तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि आज का पुरुषार्थ ही कल का भाग्य है और पूर्व में कमाये भाग्योदय से ही तुझे नरतन, जिनधर्म मिला है और उसी पूर्व संस्कार से तथा भली होनहार से ही जिनागम के अभ्यास की रुचि जगी है। बिना भाग्योदय के निरोगी काया, धर्म-साधना के योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की प्राप्ति, आजीविका की अनुकूलता, आत्म-ज्ञानी गुरु की देशना, अनुकूल परिवारजन आदि का मिलना नहीं होता, क्योंकि यह सूक्ति है कि 'समय से पहले और भाग्य से अधिक किसी को कुछ नहीं मिलता।' फिर भी उपदेश में हमें पुरुषार्थ-प्रेरक वचन ही अधिक सुनना-विचारना चाहिए। जैसे, निम्न छन्द बनाकर सोचना-विचारना चाहिए -

'बालपने में ज्ञान जु लहै, तरुण-समय संयम को गहै।

वृद्ध-समय में जो धरै समाधि, तो मिट जावै जग की व्याधि ॥'

तथा जैसे कोई पुत्र का अर्थी पुरुष विवाहादि कारणों को बुद्धिपूर्वक मिलाये तो उसे पुत्र की प्राप्ति हो भी सकती है और न भी हो। उसका उद्यम तो बुद्धिपूर्वक विवाहादि करना है और अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है; उसीप्रकार मिथ्यात्व व कषायादि विभावों को दूर करने के कारण बुद्धिपूर्वक तो तत्त्व-विचारादि हैं और अबुद्धिपूर्वक मोहकर्म के उपशमादिक हैं; सो आत्मार्थी मुमुक्षु का कर्तव्य तो तत्त्व-विचारादि का उद्यम करना ही है और मोहकर्म के उपशमादिक स्वयमेव हों, तब रागादिक विभाव दूर होते हैं, निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

जिनागम में वर्णित पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थवाद

पुरुषार्थ शब्द पुरुष+अर्थ - इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'पुरुष' आत्मा (चिदानन्दात्मा) को कहते हैं और 'अर्थ' प्रयोजन को कहते हैं। जैसे, विद्या ही है प्रयोजन जिसका, वह विद्यार्थी; आत्मा ही है प्रयोजन जिसका, वह आत्मार्थी; या मोक्षसुख ही है प्रयोजन जिसका, उसे मोक्षार्थी कहते हैं। यद्यपि पुरुष और अर्थ शब्दों के और भी अन्य अनेक मायने हैं, परन्तु प्रकृत में जीव का प्रयोजन स्वाधीन सुख की प्राप्ति करना ही है। उत्तम कर्म करने की सामर्थ्य से युक्त को पंचसंग्रह प्राकृत (गाथा 1/106) में पुरुष कहा है।

पुरु-गुण भोगे सेदे, करेदि लोयम्हि पुरु-गुणं कम्मं।

पुरु-उत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥ 106 ॥

अर्थ - जो उत्तम गुण और उत्कृष्ट भोग में शयन करता है, (सेवन करता है)

लोक में उत्तम गुण और कर्म को करता है अथवा यतः जो स्वयं उत्तम है, अतः वह पुरुष - इस नाम से वर्णित किया गया है (इसी प्रकार का कथन धवला प्रथम पुस्तक में भी है।)

यही गाथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा 273 है और उसकी जीव-तत्त्वप्रदीपिका टीका में पुरुष का अर्थ अध्यात्मपरक किया है -

'जो उत्कृष्ट गुण सम्यग्ज्ञानादि का स्वामी होय प्रवर्ते, जो उत्कृष्ट इन्द्रादिक को भोग तीहि विषै भोक्ता होय प्रवर्ते, बहुरि पुरु-गुण कर्म जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ को करे, और जो उत्तम परमेष्ठी पद में तिष्ठै, तातै वह जीव पुरुष है।'

वस्तुतः पुरुष सदैव पुरुषार्थ-प्रधान ही होता है। 'जे कम्मे सूर, ते धम्मे सूर' अर्थात् जो कर्म करने में (लौकिक सुख की प्राप्ति हेतु अर्थ व काम पुरुषार्थ करने में) शूरवीर हैं, वे ही धर्म करने में (अलौकिक/आत्मिक सुख की प्राप्ति हेतु धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ प्रगट करने में) शूरवीर होते हैं; इनमें से अर्थ व काम पुरुषार्थ का सभी जीव रुचिपूर्वक आश्रय लेते हैं और वे जन्म-मरणादि के दुःखों रूप अकल्याण को ही प्राप्त होते हैं, परन्तु धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का आश्रय लेने वाले जीव कल्याण को प्राप्त करते हैं। इनमें से भी व्यवहार धर्मरूप पुरुषार्थ, पुण्यरूप होने से मुख्यतया लौकिक कल्याण को देनेवाला है और मोक्ष-पुरुषार्थ साक्षात् कल्याणप्रद है।

मोक्षमार्ग में निश्चय से अर्थ व काम-पुरुषार्थ हेय हैं। भगवती आराधना में अर्थ व काम दोनों पुरुषार्थों को अशुभ बतलाया है, तथा व्यवहाररूप धर्म-पुरुषार्थ, ज्ञानी व अज्ञानी दोनों को सम्भव है। सम्यक्त्वसहित व्रत-तपादि आचरण को मुक्ति का परम्परा कारण भी कहा है और सम्यक्त्व-रहित व्यवहार-धर्माचरण, भगवती आराधना के अनुसार घोड़े की लीद के समान ऊपर से भला चिकना दिखायी देने पर भी वह दुर्गन्धि-युक्त होता है तथा अन्दर से वह भला, चिकना या कान्तियुक्त नहीं होता; अतः उसे संसार का ही कारण कहा है।

पंचास्तिकाय गाथा 136 की समयव्याख्या टीका में कहा है - धर्म में अर्थात् व्यवहार-चारित्र के अनुष्ठान में भाव-प्रधान चेष्टारूप प्रशस्त-राग, वास्तव में स्थूल लक्षवाला होने से मात्र भक्ति-प्रधान अज्ञानियों को होता है। उच्च भूमिका में (अर्थात् 4-5-6वें गुणस्थानों में जहाँ शुद्धोपयोगरूप) स्थिति

प्राप्त न की हो, तब अस्थान (अयोग्य स्थान/अप्रशस्त भावों) का राग रोकने के हेतु अथवा तीव्र राग-ज्वर मिटाने के हेतु कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।

प्रवचनसार, गाथा 85 में कहा है कि पदार्थ (तत्त्वों) का अयथाग्रहण, तिर्यंच व मनुष्यों के प्रति करुणाभाव और विषयों की संगति - ये सब मोह के चिह्न हैं अर्थात् प्रथम तो दर्शनमोह का, द्वितीय शुभरागरूप चारित्रमोह का तथा तृतीय अशुभरागरूप चारित्रमोह का चिह्न है।

इसी तरह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 220 में कहा है - 'इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपतता) निर्वाण का ही कारण है, अन्य गति का नहीं और जो रत्नत्रय में पुण्य का आस्रव होता है, यह अपराध शुभोपयोग का है। व्यवहारधर्म, शुभोपयोगरूप ही होता है तथा व्यवहाररूप धर्म-पुरुषार्थ का निषेध, कहीं पाप-अशुभाचरण में लगाने के लिए नहीं है, स्वच्छन्दता के पोषण के लिए नहीं है, परन्तु स्वरूपाचरण स्वरूप शुद्धोपयोग (निर्विकल्प स्वसंवेदन) की प्राप्ति में शुभविकल्प भी बाधक है, इसलिए उसका निषेध किया है। वस्तुतः व्यवहार-धर्म-साधन साधुओं को अमुख्य (गौण) और गृहस्थों को मुख्य होता है; तथापि सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु प्रथम उसका अभिप्राय (श्रद्धान) में हेयपना ही वर्तना चाहिए, क्योंकि कोई भी प्रकार का राग, उपादेयपनेरूप धर्म को प्राप्त नहीं हो सकता तो फिर पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय क्या है?

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 15 में कहा है -

विपरीताभिनिवेशं, निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।

यत्तस्मादविचलनं, स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ 15॥

अर्थ - तत्त्वों से विपरीत अभिप्रायरूप श्रद्धान को नष्ट कर निजस्वरूप को (निज ध्रुव चिदानन्दात्मा को) यथावत् जानकर (सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी होकर), अपने उस स्वरूप से च्युत न होना ही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

पुरुषार्थ की विपरीतता अनिष्टकारी है - ऐसा समयसार गाथा 160 में आत्मख्याति टीका में कहा है - 'ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बन्ध-अवस्था में (असमानजातीय द्रव्यपर्याय में एकत्वरूप) सर्व प्रकार से सम्पूर्ण अपने को जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से रह रहा है।

ज्ञानार्णव में तीसरे अधिकार के पाँचवें श्लोक में कहा है -

त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्क दूषितम्।

ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥ 5 ॥

अर्थ - चार पुरुषार्थों में पहिले तीन पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम) नाश सहित हैं और संसार के रोगों (जन्म-मरण) से दूषित हैं - ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अन्त के (चौथे) उत्कृष्ट मोक्ष-पुरुषार्थ के साधन करने में लगते हैं, क्योंकि वह अविनाशी है।

व्यवहारधर्म जो निश्चय से पुण्यबन्ध का कारण है, फिर भी उसे परम्परा से मोक्ष का कारण कहने का तात्पर्य पंचास्तिकाय, गाथा 170 की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने इस प्रकार कहा है - 'उस पूजादि शुभानुष्ठान के कारण से यद्यपि अनन्त संसार की स्थिति का छेद करता है, परन्तु कोई भी अचरमदेही उसी भव में कर्मों का क्षय नहीं करता है, तथापि पुण्यास्रव परिणाम सहित होने से उसी भव में निर्वाण को प्राप्त नहीं करता है, किन्तु भवान्तर में देव-इन्द्रादि पद प्राप्त करता है। वहाँ विमान-परिवार आदि विभूति को तृण-समान गिनता हुआ, पंच महाविदेहों में जाकर, समवसरण में वीतरागी सर्वज्ञों को देखता है और निर्दोष परम आत्मारोधक गणधरदेवादि को देखता है। उसके पश्चात् धर्म में विशेषता से दृढ होकर, चतुर्थ गुणस्थान योग्य आत्मभावना को न छोड़ता हुआ देवलोक में काल व्यतीत करता है। वहाँ पर आयु के अन्त में स्वर्ग से आकर मनुष्य भव में चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर भी पूर्वभव में भायी हुई शुद्धात्मा की भावना के बल से मोह नहीं करता है। यहाँ पर भी विषय-सुख छोड़कर, जिनदीक्षा ग्रहण करके निर्विकल्प समाधि के विधान से विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावरूप निज शुद्धात्मा में स्थित होकर मोक्ष को चला जाता है - यह भावार्थ है।'

उक्त बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ के कथन का तात्पर्य इतना ही है कि मिथ्यादृष्टि का पुण्य, पापानुबन्धी होता है और सम्यग्दृष्टि का पुण्य, पुण्यानुबन्धी होता है तथा वह पुण्य नियम से परम्परा-मोक्ष का निमित्त-कारण होता है। भावपाहुड़, गाथा 84-85-86 में श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य देव ने स्पष्ट रूप से लिखा है -

जो पुरुष, पुण्य को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं; उनके पुण्य, भोग का निमित्त है परन्तु वह पुण्य, कर्म के क्षय का निमित्त नहीं होता है ॥ 84 ॥

यदि आत्मा रागादिक समस्त दोषों से रहित होकर, आत्मा में ही रत हो जाये तो ऐसे धर्म को जिनेश्वरदेव ने संसार-समुद्र से तिरने का कारण कहा है ॥ 85 ॥

जो भव्य जीव, आत्मा को तो प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते और सर्व प्रकार के पुण्य-कार्यों को करते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त न करके, संसार में ही भ्रमण करते हैं ॥ 86 ॥

उक्त जिन-वचनों के अनुसार ही आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशक में 'पुरुषार्थ से ही मोक्षप्राप्ति' इस शीर्षकान्तर्गत यह लिखा है - 'जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे मोक्ष का उपाय कर सकते हैं और जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो शिक्षा मात्र है; जैसा पुरुषार्थ करे, वैसा फल लगता है।'

तथा इस प्रश्न के समाधान में कि द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के अर्थ गृहस्थपना छोड़कर, तपश्चरणादि करता है; वहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध नहीं हुआ, इसलिए पुरुषार्थ करने से तो कुछ सिद्धि नहीं है? उन्होंने जो लिखा वह अत्यन्त मार्मिक है, मोहनिद्रा भंग कर देनेवाला है, वह इस प्रकार है -

'अन्यथा पुरुषार्थ से फल चाहे तो कैसे सिद्धि हो? तपश्चरणादि व्यवहार-साधन में अनुरागी होकर प्रवर्ते, उसका फल शास्त्र में तो शुभबन्ध कहा है और यह उससे मोक्ष चाहता है, वह कैसे होगा? यह तो भ्रम है। तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगाये, वह तो इसी का दोष है तथा पुरुषार्थ से तत्त्व-निर्णय में उपयोग लगाये, तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर, सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है।'

समयसार, कलश 116 में ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) को नित्य निरास्रव कहा है, क्यों - कैसे - किस अपेक्षा से कहा है? इस कलश के भावार्थ में पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा ने इसी बात का सुन्दर रीति से स्पष्टीकरण किया है। पूरा भावार्थ इस प्रकार है -

भावार्थ - ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है, वह राग को मिटाने के लिए उद्यम किया करता है, उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसीलिए वह सदा निरास्रव ही रहता है। परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है - अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिए निजशक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इस प्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

'बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार है - जो रागादि परिणाम

इच्छासहित होते हैं, सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छारहित-परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादि परिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं। सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि-परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं, तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना ही इच्छा के होते हैं।

पाण्डे राजमलजी ने इस कलश की टीका करते हुए 'बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार किया है -

जो राग-परिणाम, मन के द्वारा बाह्य विषयों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्तते हुए जीव को स्वयं को ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं, वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते, वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष, ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।'

अब जरा पुरुषार्थ शब्द (वाचक) का वाच्य खोजते हैं - पुरुषार्थ, वस्तुतः वीर्यगुण की पर्याय है। वीर्यगुण और उसकी प्रतिसमय परिणामन करने रूप पुरुषार्थपर्याय छहों द्रव्यों में पायी जाती है, मात्र जीवद्रव्य में ही पायी जाती हो - ऐसा नहीं है। हमारा ऐसा मानना कि जड़-द्रव्य सभी पुरुषार्थरहित होते हैं और हमारे आधीन हैं। हमारे परिणामने से परिणामते हैं - यह मिथ्यात्व है। प्रत्येक पदार्थ, अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ, अपने स्वरूप की रचना करता हुआ, परिणामन का पुरुषार्थ, प्रतिसमय करता ही रहता है। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक समय में अपनी व्यक्त वर्तमान अवस्था को त्याग कर, दूसरी नयी अवस्था-विशेष को धारण करता रहता है। अन्तर मात्र इतना ही है कि जीव के पुरुषार्थ की जाति विचारणाओं रूप ज्ञानात्मक/चैतन्यात्मक होती है और जड़-द्रव्यों के पुरुषार्थ की जाति जड़तात्मक होती है। जीव चेतन-पदार्थ है, अतः विचारशील-मननशील-अनुभवशील है। उसका यह पुरुषार्थ इन्द्रियगोचर नहीं है। परमाणु/स्कन्धादि जो जड़-पदार्थ हैं, उनका अपने-अपने रूप जो परिणामन है, वही उनका पुरुषार्थ है। वस्तुओं के इस परिणामनरूप पुरुषार्थ के अभाव में उनकी किसी भी अवस्था में परिवर्तन होना असम्भव हो जायेगा। पुरुषार्थ, कार्य-व्यवस्था का एक कारणरूप अंग अवश्य है, परन्तु हमें यह भी जान लेना चाहिए कि अकेला एक पुरुषार्थ, कुछ नहीं कर सकता। वहाँ कार्योत्पत्ति के समय अन्य अबुद्धिपूर्वक कारणरूप

अंग, जैसे निमित्तादि की अनुकूलता-प्रतिकूलता, काललब्धि होनहार (दैव/भवितव्य) भी मिलना चाहिए। यदि एकमात्र पुरुषार्थ से ही कार्य-सिद्धि होती होती तो फिर मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी भी जो पराश्रित व्यवहाररूप पुरुषार्थ को ही सच्चा निश्चय पुरुषार्थ माने बैठे हैं, वे भी मोक्ष प्राप्त कर लेते? सम्यक् निजस्वभाव-साधन-रूप निश्चय पुरुषार्थ के साथ मोहादि कर्मों का उपशम/क्षयोपशम/क्षयादि होना भी अनिवार्य कारण है, जिसकी कार्योत्पत्ति में नियामकरूप समकाल-प्रत्यासति पायी जाती है। जैसे, एकान्त नियतिवाद भी मिथ्या है, उसी तरह एकान्त पुरुषार्थवाद मिथ्या है। तीन सौ तिरेसठ एकान्तवादी मिथ्यामतों का निरूपण गोम्मटसार कर्मकाण्ड में गाथा 876 से 895 तक में है। जैसे, एकान्त नियतिवाद की गाथा 882 है, उसी तरह एकान्त पुरुषार्थवाद की गाथा 890 इसप्रकार है -

आलसड्डो गिरुच्छा, सो फलं किंचि ण भुंजदे ।

थणक्खीरादिपाणं वा, पउरुसेण विणा ण हि ॥८९०॥

अर्थ - जो आलस्यकर सहित हो तथा उद्यम करने में उत्साह रहित हो, वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता। जैसे, स्तनों का दूध पीना आदि भी बिना पुरुषार्थ के कभी नहीं बन सकता, इसी प्रकार पुरुषार्थ से ही सब कार्यों की सिद्धि होती है - ऐसा मानना पुरुषवाद है।

और इसी तरह एकान्त दैव भाग्यवाद की गाथा 891 इस प्रकार है।

दइवमेव परमण्णे धिप्पउरुसमणत्थयं ।

एसो सालसमुत्तुंगो कण्णे हण्णइ संगरे ॥८९१॥

अर्थ - मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो। देखो, किले के समान ऊँचा वह कर्ण नामा राजा भी युद्ध में मारा गया - ऐसा दैववाद है, इसी से सर्व-सिद्धि मानी गयी है।

इसी तरह क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, कालवादी, विनयवादी, नियतिवादी, आत्मवादी, ईश्वरवादी, संयोगवादी, लोकवादी (लोकप्रवृत्ति को ही सर्वस्व माननेवाले) आदि अनेकों एकान्ती मिथ्यादृष्टि हैं। इन सब मिथ्यावादियों के सारांशरूप कथन करनेवाली गाथाएँ 894 और 895 हैं।

प्रवचनसार परिशिष्ट में 47 नयों का वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी पाँच समवाय सूचक परस्पर विरोधी व्यवहारनय-निश्चयनय, नियतिनय-

अनियतिनय, स्वभावनय-कालनय-अकालनय, पुरुषाकारनय-अस्वभावनय, दैवनय-ईश्वरनय-अनीश्वरनय तथा क्रियानय-ज्ञाननय, अशुद्धनय-शुद्धनय आदि भी परस्पर-विरोधी धर्मों को दशनिवाले नयों की व्याख्या की है और अन्त में गोम्मटसार कर्मकाण्ड में समागत ये दो ही गाथाएँ 894 और 895 भी उन्होंने उद्धृत की हैं -

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।

जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥

अर्थ - (बहुत कहने से क्या? सारांश इतना है कि) जितने वचनपन्थ हैं, वचन के प्रकार हैं, उतने ही वास्तव में नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं? (जो कुछ वचन बोला जाता है, वह किसी अपेक्षा को लिए हुए ही होता है, उस जगह जो अपेक्षा होती है वही नय है और बिना अपेक्षा के बोलना या एक ही अपेक्षा से अनन्तधर्मात्मक वस्तु को सिद्ध करना - ये ही परमतों में मिथ्यापना है।

परसमयाणं वयणं, मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा ।

जंइणाणं पुण वयणं, सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥८९५॥

अर्थ - परसमयों (मिथ्यामतियों) के वचन, सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहे जाने के कारण वास्तव में मिथ्या हैं और जैनों के वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षासहित) कहे जाते हैं, इसलिए वास्तव में सम्यक् हैं।

हम जैनियों में भी अधिकांश धर्मबन्धु बिना तत्त्वाभ्यास के, बिना तत्त्व-निर्णय किये, बिना सर्वज्ञ के स्वरूप को जाने, जैनेतर मतावलम्बियों की तरह ही सर्वज्ञ -(अरिहन्त, सिद्धभगवन्तों) को मानते, पूजते हैं। इसी से उनको ऐसा प्रश्न उठता है कियदि श्री सर्वज्ञ भगवान के देखे अनुसार ही क्रमबद्धपर्याय हो और उस क्रम में कोई रंचमात्र भी हेरफेर न हो, हम अपने पुरुषार्थ से कुछ भी परिवर्तन न कर सकें तो फिर जीव को पुरुषार्थ करने का कहाँ अवकाश रहा? फिर 'पुरुषार्थ से ही मोक्ष की प्राप्ति' का उपदेश क्यों जिनागम में दिया है? उनसे ज्ञानीजन कहते हैं -

‘हे भाई ! क्या तूने आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति का निर्णय कर, उसके स्वरूप को जाना है? क्या तूने अपने ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक, अकर्ता-अभोक्ता स्वभाव को जाना है? केवलज्ञान पर्याय किसे कहते हैं, उसके अकारक-अवेदक स्वरूप को जाना है? यदि तू निष्पक्ष हो आगम के आलोक में अपने ज्ञानस्वभाव का एवं सर्वज्ञदेव का निर्णय करेगा तो तुझे पता चल जायेगा कि क्रमबद्धपर्याय

के स्वीकारने में पुरुषार्थ कैसे आता है? क्या अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों ने पुरुषार्थ करना छोड़ दिया? या वे भी अपने स्वरूप-रचना के पुरुषार्थ में लीन हैं?

जब तक अपने को पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आयेगा, तब तक ही उक्त प्रश्न मुँह बाये खड़े रहते हैं। अनादि से ही भ्रमवश यह जीव ऐसा क्यों हुआ?

निज को पर का कर्ता पिछान, पर में अनिष्टता-इष्ट ठान।

आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि।'

तो उसे कहते हैं - 'मैं भ्रम्यो अपनपो बिवसरि आप, अपनाये विधि फल पुण्य-पाप।

- यह जीव अपने आपको भूल के हैरान है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, जानने वाला है। वह न तो पर का कर्ता है और न राग का भी कर्ता है। कर्ता होकर पर की अवस्था उत्पन्न करे - ऐसा तो ज्ञायक का स्वरूप नहीं है। राग में स्वामित्वरूप कर्ताबुद्धि करना भी उसका स्वभाव नहीं है। राग भी उसके ज्ञेयरूप ही है। जैसे, जीव, ज्ञान से त्रिकाल तन्मयरूप रहता है, वैसा राग से तन्मय होकर नहीं, बल्कि राग से भिन्न रहकर उसे जानता ही है - ऐसा ज्ञायक का स्वरूप समझे तो पर व राग की कर्ताबुद्धिरूप भ्रम का निवारण हो और दृष्टि, स्वभाव-सन्मुख हो, करने-धरने की आकुलता से मुक्त हो, आत्मिक सहज शान्ति का वेदन हो। ज्ञायक आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा के परिणाम के अलावा अन्य क्या करे? जो जिसका स्वभाव होता है, उसे करना नहीं होता, वह तो सत् अहेतुक सदैव परनिरपेक्ष ही हुआ करता है?

प्रत्येक द्रव्य, स्वयं परिणमनशील है, निज-ध्रुव एकरूप स्वभाव को छोड़े बिना परिणमन करना (प्रतिसमय परिवर्तित होते रहना), द्रव्य से द्रव्यान्तर हुए बिना पर्याय से पर्यायान्तर होते रहना, ऐसा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' द्रव्य का लक्षण है। किसी भी द्रव्य को अपने परिणमन में (अवस्था से अवस्थान्तर होने में) पर के हस्तक्षेप या मदद की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। यह परिणमन-स्वभाव भी पर-निरपेक्ष ही होता है।

प्रत्येक पर्याय का जीवन मात्र एक समय का ही होता है। कोई पर्याय एक समय से अधिक कालतक रुक जाए या किसी निमित्तादि के हस्तक्षेप से जो होने योग्य पर्याय होना, वह न होकर अन्य पर्याय प्रगट हो जाये? तो फिर सर्वज्ञ ने क्या कोई भिन्न पर्याय होना जाना था? या जैसा जाना था, वैसा ही उस द्रव्य

का परिणमन हुआ है? अरे ! केवलज्ञान या सर्वज्ञ भगवान भी उस परिणमन के कर्ता नहीं है, ज्ञापक निमित्तमात्र हैं।

जब प्रत्येक द्रव्य में भावशक्ति, अभावशक्ति, भावाऽभावशक्ति, अभाव-भावशक्ति, भावभावशक्ति, अभावाऽभावशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक पर्याय, अपने-अपने जन्मक्षण में उत्पन्न होती हुई और पूर्वपर्याय से विनष्ट होती हुई तथा द्रव्य/शक्तिरूप ध्रुव रहती हुई वर्तती रहती हैं।

पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने जैन-तत्त्व-मीमांसा में इसे स्पष्ट किया है - 'प्रत्येक कार्य, अपने-अपने स्वकाल में ही होता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित हैं। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चय-उपादान के अनुसार होती रहती हैं। यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायों की क्रमाभिव्यक्ति को दिखलाने के लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने-अपने निश्चय-उपादान के अनुसार नियमित है - यह दिखलाने के लिए दिया गया है। वर्तमान काल में जिस अर्थ को 'क्रमबद्धपर्याय' इस शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमितपर्याय' का वही अर्थ है।

उक्त संज्ञा का आधार समयसार गाथा 308 से 311 की आत्मख्याति टीका है, जिसमें आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने लिखा है - 'जीवो हि तावत्क्रम-नियमिताऽऽत्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाऽजीवा; एवमजीवोऽपि क्रमनियमिताऽऽत्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवा।' अर्थात् प्रथम तो जीव, क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।'

प्रवचनसार गाथा 99 आत्मख्याति टीका में इसी तथ्य को अति स्पष्टरूप से सिद्ध किया गया है कि वे परिणाम (पर्यायें) अपने अवसर में (अपने जन्मक्षण में) स्वरूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक है।'

डॉ. हुकूमचन्दजी भारिल्ल ने अपनी अनुपम कृति 'क्रमबद्धपर्याय' में अनेक आगम-अध्यात्म ग्रन्थों के उद्धरणों से यह सिद्ध कर दिखाया है कि जो सर्वज्ञदेव को मानता है, सर्वज्ञ के त्रिकालज्ञपने को जानता-मानता है, वह अवश्य ही पर्यायों की क्रमबद्धता स्वीकारेगा ही। यदि हम जैन, विशेषकर तत्त्वाभ्यासीजन

भी पर्यायों की क्रमबद्धता नहीं स्वीकारते हैं तो समझना, अभी हमने अपने आदर्श, आराध्य, अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों को भी नहीं माना है और विकल्परूप भावों के कर्ता बने रहना चाहते हैं। पर का कुछ कर तो नहीं सकते, किन्तु पर का कर्ता बनकर नीति-न्याय गँवाते हैं और कर्तृत्व के अभिमान से दग्ध होकर उसके फल में आकुलता-व्याकुलता के दुःख को भोगते रहते हैं।

प्रवचनसार, गाथा 39 में कहा है - 'जो यदि अनुत्पन्न (भविष्य) की और विनष्ट (भूतकाल) की पर्यायें, सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?'

आचार्य अमितगति ने 'योगसार' में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा है -

अतीता भाविनश्चाऽर्थाः स्वे-स्वे काले यथाऽखिलाः ।

वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलम् ॥28 ॥

अर्थ - भूत और भावी समस्त पदार्थ, जिस रूप से अपने-अपने काल में वर्तमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हें भी उसी रूप में ज्यों का त्यों जानता है।

उक्त अनेक आगम-प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जब प्रत्येक पर्याय, स्वसमय में खचित है, निश्चित है तो फिर उसे आगे-पीछे करने का, हेरफेर करने का, अपने विकल्प, इच्छानुसार वांछित पर्याय को प्रगट करने का और जो पर्याय नहीं चाहिए, उसे नहीं होने देने का क्या काम शेष रह जाता है? क्योंकि प्रत्येक परिणाम तो अपने-अपने अवसर (समय) पर ही प्रगट होता है; उसे टालने में, फेरफार करने में इन्द्र, अहमिन्द्र, जिनेन्द्र भगवान भी समर्थ नहीं हैं - इस कथन की पुष्टि अतिदृढ़ता से **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, गाथा 321-322-323 में की गयी है।

यदि इन गाथाओं के मर्म को हमने हृदयंगम नहीं किया, स्वीकार नहीं किया तो समझना चाहिए कि हम सर्वज्ञवादियों ने भी असर्वज्ञवादियों की तरह सर्वज्ञ की सर्वज्ञता को नहीं माना तथा वह जैन होकर भी अजैनवत् गृहीत मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं।

आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने **आत्मानुशासन**, श्लोक 10 की टीका में षट् अनायतनों की व्याख्या, प्रचलित कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु एवं उनके सेवकरूप अनायतनों की व्याख्या से हटकर, बिलकुल ही नये ढंग से दो रूपों में प्रस्तुत की है। (प्रथम रूप) 'मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक जीव; इसप्रकार छह अनायतन होते हैं। अथवा (द्वितीय रूप) असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का स्थान, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ के ज्ञानयुक्त पुरुष, असर्वज्ञ के आचरण सहित

पुरुष इस प्रकार ये छह अनायतन हैं। वे सम्यक्त्व के स्थान नहीं हैं, इसलिए उन्हें अनायतन कहते हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा की वे तीन गाथाएँ इसप्रकार हैं -

जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।

णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा ॥321 ॥

तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।

को सक्कदि वारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥322 ॥

एवं जो णिच्छयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।

सो सद्विड्डी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्विड्डी ॥323 ॥

अर्थ - जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण, जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उस विधान से वह अवश्य होता है; उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है। इस प्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तुतः इस अज्ञानी लोक को निष्पन्न हो चुकी पर्यायों की क्रमबद्धता मानने में कोई तकलीफ होती नहीं दिखायी देती, परन्तु जो अनिष्पन्न पर्यायें भविष्य के गर्भ में हैं, उनको भी जब निश्चित कहा जाता है तो उसे तकलीफ होती है। वह सोचता है कि जब प्रत्येक पर्याय, पहले से होना निश्चित ही है तो हमारा श्रम, उद्यम, जुगाड़रूप पुरुषार्थ करना, सब निरर्थक है तथा सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता से भी इनकार नहीं कर सकता है तो वह सर्वज्ञ की परिभाषा कुछ इसप्रकार की बना लेता है कि जिससे उसके कर्तृत्वरूप मिथ्या-पुरुषार्थ पर आँच न आने पावे। उसकी कल्पना के सर्वज्ञ, भूतकालिक घटनाओं (पर्यायों) को तथा वर्तमान की सर्व द्रव्यों की पर्यायों को तो जानते हैं, पर भविष्य को नहीं जान सकते, क्योंकि नीतिशास्त्रों में ऐसा कहा है कि '*स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ।*' परन्तु यह सब अल्पज्ञों की बातें, अल्पज्ञों को न्याय-नीति पथ पर चलाने के लिए अल्पज्ञों द्वारा लिखी गयी हैं।

तात्पर्य यह है कि इस अल्पज्ञ को नहीं पता होता कि अगले क्षण क्या होनेवाला है, अतः उसे ज्ञानी, यही उपदेश देते हैं कि अपनी विवेक-बुद्धि से, दूरदृष्टि से सोच-विचार कर, ऐसा कार्य करो, जिसमें अपना भी अहित न हो

और दूसरों का भी अहित न हो, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि जो सर्वज्ञदेव ने जैसा जाना-देखा है, वह तत्समय की योग्यतारूप भवितव्यतानुसार ही होता है, और भविष्य में भी वही होकर रहेगा।

यद्यपि मेरे विकल्परूप पुरुषार्थ से वह बदलनेवाला नहीं है, तथापि अपने को साध्य की सिद्धि के अनुकूल विकल्प नहीं आये - ऐसा भी नहीं बनता, क्योंकि विकल्प की भूमिका में विकल्प नहीं आयेंगे तो कहाँ आयेंगे? अतः वे भी क्रमबद्धपर्याय की अवधारणा में शामिल हैं।

फिर प्रश्न होता है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को सरागावस्था में निर्विकल्प कैसे कहा जाता है? उसका समाधान यह है कि उसको सर्वज्ञ, सर्वज्ञकथित तत्त्वार्थों एवं प्रत्येक द्रव्य की क्रमनियतपर्यायों का सच्चा श्रद्धान है, जिससे उसके अभिप्राय में निर्विकल्पतारूप प्रतीति सदैव वर्तती रहती है, मिथ्या-अभिप्रायजन्य अनन्त दुःख उसे कभी भी नहीं होता है।

कर्तृत्वबुद्धि के अहंकार से ग्रसित मिथ्यादृष्टि जीव, जो कार्य उसकी इच्छानुसार दैवयोग से बन जाते हैं, उसकी सफलता का श्रेय तो वह स्वयं ले लेता है और जो कार्य बिगड़ जाते हैं अथवा इच्छा-विरुद्ध हो जाया करते हैं, उनका भार/श्रेय, वह या तो तथाकथित भगवान के ऊपर या कर्मोदय के ऊपर या क्रमबद्धपर्याय के ऊपर डालकर छुट्टी पा जाता है। उसकी ऐसी बुद्धि है कि वह उन अनिच्छित कार्यों का श्रेय स्वयं नहीं लेना चाहता कि यह काम मेरी भूल से बिगड़ा है या नहीं हो सका है। यदि उसे भगवान या अपने कर्मोदय या क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ होता तो वह प्रत्येक कार्य, मेरे करने से नहीं हुआ, वरन् सर्वज्ञ के द्वारा जैसा जाना गया, वैसा ही, वैसी ही परिस्थितियों में होने योग्य ही हुआ है - ऐसा मानता।

इस विश्व में दोनों प्रकार की मान्यतावाले व्यक्ति मिलेंगे। एक तो वे, जो अपनी कार्य की सफलता का श्रेय एकान्ततः अपने उद्यम/पुरुषार्थ को देते हैं तथा दूसरे वे, जो कार्य की विफलता का श्रेय एकान्ततः दैव/भाग्य को ही दिया करते हैं। अर्थात् एक तो वे, जो अपने पुरुषार्थ की डींग हाँकते हैं और दूसरे वे, जो भाग्य/दैव को कोसा करते हैं। कभी-कभी ऐसी दोनों प्रकार की मान्यतायें एक व्यक्ति में भी कालान्तर से देखी जाती हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह होती है कि उस कार्य के होने में पाँचों समवायों की बराबर-बराबर की भूमिका अदा होती है; तथापि बुद्धिपूर्वक योग्य प्रयत्न/पुरुषार्थ करने का ही

उपदेश दिया जायेगा, दिया भी जाना चाहिए, क्योंकि जो बुद्धिगोचर कारण होते हैं, उनको ही मिलाने का उपदेश दिया जाता है। कार्य का होना या न होना एकान्ततः न तो बुद्धिगोचर उद्यम/पुरुषार्थ पर निर्भर करता है और न ही एकान्ततः दैव या भाग्य या अबुद्धिपूर्वक के कारणों पर निर्भर करता है। दैव व पुरुषार्थ दोनों का सुमेल होने पर ही कार्य निष्पन्न होता है, अन्यथा नहीं; इसीलिए महान स्याद्वादी और अनेकान्त स्थापक स्वामी समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र में भवितव्य की शक्ति को अलंघ्य कहा है।

अलंघ्य-शक्ति-भवितव्यतेयं, हेतु-द्रयाऽऽविष्कृत-कार्य-लिङ्गा।।

अनीश्वरो-जन्तुरहं क्रियार्तः संहृत्य कार्येष्विति-साध्ववादी ॥३३॥

अर्थ - (यहाँ मानों आचार्य समन्तभद्रदेव, सर्वज्ञ भगवान से कहते हैं -) हे जिनदेव! आपने यह ठीक ही कहा है कि हेतु-द्रय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक (बतलाने वाला) है - ऐसी भवितव्यता की शक्ति अलंघ्य है अर्थात् भवितव्यता का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता; होनहार हो के ही रहती है। फिर भी यह निरीह प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ'; इस प्रकार के अहंकार से पीड़ित रहता है, जबकि भवितव्यता के बिना वह अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्य सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

इसी तथ्य को और सुदृढ़ता से पुष्ट करते हुए पण्डित श्री आशाधरजी ने 'अध्यात्म रहस्य' में लिखा है -

भवितव्यतां भगवतीमधियन्तुरहन्त्वहंकरोमीति।

यदि सद्गुरूपदेश-व्यवसित-जिनशासन-रहस्याः ॥६६॥

अर्थ - यदि सद्गुरु के उपदेश से जिनशासन के रहस्य को आपने (हमने) ठीक प्रकार से समझा है निश्चित किया है, तो 'मैं करता हूँ' - इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना को छोड़ो और भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो।

इस श्लोक का भावार्थ स्व. पण्डित श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने बहुत ही समाधान कारक लिखा है - 'भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कार्य, जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना झलका है; वह उसी समय, वहीं पर, उसी के द्वारा और उसी प्रकार से सम्पन्न होगा। इस भविष्य-विषयक कथन से भवितव्यता के उक्त आशय में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में उस कार्य के साथ उसका कारण-कलाप भी झलका है। सर्वथा नियतवाद अथवा निहंतुकी भवितव्यता, जो कि असम्भाव्य है, उस कथन का विषय ही

नहीं है। इसके सिवाय सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार पदार्थों का परिणामन नहीं होता, किन्तु पदार्थों के परिणामनानुसार सर्वज्ञ के ज्ञान में परिणामन अथवा झलकाव होता है। वास्तव में ज्ञान ज्ञेयाकार है, न कि ज्ञेय ज्ञानाकार।'

अब हम जरा इस संसारी जीव की कर्मबन्धनरूप अवस्था और उन कर्मों के उदयानुसार होनेवाले हर्ष-शोक के परिणाम एवं संयोग-वियोग की ओर से विचार कर देखें तो पायेंगे कि क्या हमारे करने से किसी का भला-बुरा होता है या हो सकता है? अथवा उसका भला-बुरा होना, उस जीव के भवितव्य के अधीन है?

एक लोकोक्ति है कि 'कौए के कोसने से जानवर नहीं मरते।' - यह लोकोक्ति यों ही नहीं बन गयी है। उसका मर्म यही है कि हमारे बुरा करने से किसी का बुरा नहीं होता। उसका बुरा होना, उसके भवितव्याधीन है। यदि मैं किसी प्रकार से अपनी उच्चता, महन्तता चाहूँ तो क्या मेरे चाहने मात्र से जगत में मेरी उच्चता या महन्तता हो जायेगी? वह तो मेरे यशस्कीर्ति या पुण्यादिप्रकृतियों के आधीन है अर्थात् भवितव्याधीन है।

इसी प्रकार किसी को मायाचारी से ठगकर, अपनी इष्ट-सिद्धि करना चाहूँ तो इष्ट-सिद्धि होना भी भवितव्याधीन है और लोभ से मैं धनादि अचेतन पदार्थों की तथा स्त्री-पुत्रादि सचेतन पदार्थों की तृष्णा की पूर्ति करना चाहता हूँ, परन्तु अनुकूल संयोगों का मिलना-बिछुड़ना तो पुण्य-पापदय के अधीन है अर्थात् भवितव्याधीन है। यह जीव चाहे जितना सही-गलत पुरुषार्थ करे और एकान्त से अपने पुरुषार्थ की हठ से कार्य की सिद्धि करना चाहे तो क्या वह हो सकती है? कदापि नहीं! उसको पुरुषार्थ के साथ भवितव्यता/नियति भी मानना ही पड़ेगी।

उक्त सर्व कथन का सार यही है कि पुरुषार्थ और दैव, दोनों ही कार्यों की सफलता में कारण है। दैव, शुभाशुभकर्मों से बनता है, वहीं वह पुरुषार्थ-सिद्धि में बाधक-साधक होकर, सफलता-असफलता प्रदान करता है। जो पुरुष, सदैव शुभकर्म का बन्ध करता है, उसे अल्प पुरुषार्थ करने पर व्यवहार दृष्टि से शीघ्र सफलता मिलती है और जो अशुभकर्म का बन्ध अधिक करता है, वह अधिक पुरुषार्थ करने पर भी उसके अनुकूल सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। जीव के ये शुभाशुभ-परिणाम, पुरुषार्थ करने पर भी दैव के (अबुद्धिपूर्वक कारणों के) नियन्त्रण में रहते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इन चारों प्रकार के पुरुषार्थों में जो धर्म को मूल मानकर प्रवृत्त होते हैं, परमार्थतः सफलता उनकी चेरी बन जाती है।

लेकिन सभी तीर्थकरों को दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त मात्र में पूर्ण ज्ञान, केवलज्ञान प्रगट क्यों नहीं हो जाता? सभी का कैवल्य-प्राप्ति का पुरुषार्थ तो एक सदृश होता है तो फिर सभी तीर्थकर-मुनिराजों की कैवल्य-प्राप्ति की समयावधि भिन्न-भिन्न क्यों है? श्री सीमन्धरादि विद्यमान (कैवल्य-प्राप्त) बीस तीर्थकर एक करोड़ पूर्व की आयु पूर्ण कर ही अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त करेंगे, जबकि वे अनन्त बल के धारी हैं तो फिर वे क्यों नहीं, उसके पहले अघातिकर्म क्षयकर मोक्ष चले जाते? क्या उनके पुरुषार्थ में कुछ कमी होती है? तथा भरत चक्रवर्ती मुनि-दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष कैसे चले गये? क्या उनका पुरुषार्थ तीर्थकर-मुनिराजों से भी अधिक था? पाँच पाण्डवों में तीन को मोक्ष और दो को सर्वार्थसिद्धि प्राप्त हुई, क्यों? बाह्य समान पुरुषार्थ करनेवालों के भी एक का पुरुषार्थ सफल और दूसरे का निष्फल होता क्यों देखा जाता है? अर्थात् पुरुषार्थ-पुरुषार्थ में अन्तर होना चाहिए? तथा उस अन्तर का कारण कौन? त्रिरेसठ शलाका पुरुषों में भी इस हुण्डावसर्पिणी काल में नहीं होने योग्य घटनाएँ क्यों घटी? जैसे, तीर्थकर के पुत्री का जन्म होना, चक्रवर्ती का मान-भंग होना, 66 दिनों तक भगवान की दिव्यध्वनि का न खिरना, 63 शलाका पुरुषों में द्वि-पदवी-धारक महापुरुषों के कारण 60 की संख्या रहना, तीर्थकरों को मुनि-अवस्था में उपसर्ग होना, कुछ तीर्थकरों का जन्म अयोध्या में न होकर, अन्य नगरों में होना; चार तीर्थकरों का निर्वाण, शाश्वत सिद्धक्षेत्र सम्मेद शिखरजी से न होना, इत्यादि आश्चर्योंत्पादक घटनाओं को भवितव्याधीन (तथा तदनु रूप पुरुषार्थ से) हुई ही मानना चाहिए या नहीं? अर्थात् मानना ही पड़ेगी।

तीर्थकर सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में जो भविष्य में घटनेवाली घटनाओं की घोषणाएँ हुई, क्या वे सत्य साबित नहीं हुई? जैसे प्रथम तीर्थकर भगवान आदिनाथ द्वारा भरत-पुत्र मारीचि कुमार के 24 वें तीर्थकर होने की घोषणा, बाइसवें तीर्थकर भगवान नेमिनाथ द्वारा बारह वर्ष बाद द्वीपायन मुनि के निमित्त से सुन्दर द्वारका नगरी के जलकर भस्म हो जाने की घोषणा, नारायण श्रीकृष्ण की मृत्यु, उनके ही भाई जरत्कुमार के बाण से होने की घोषणा, 24 वें तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी द्वारा राजा श्रेणिक के अगली चौबीसी में महापद्म नामक प्रथम तीर्थकर होने की घोषणा और भविष्य के अनेक तीर्थकरों आदि की घोषणा, छह मास आठ समय में 608 जीवों का नित्य निगोद से निकलना और इतने ही समयावधि में इतने ही जीवों का मोक्ष जाना क्या इसमें कभी कम-ज्यादा हो

सकते होंगे? निगोद से निकले (इन्द्र-गोपादि दो इन्द्रिय होकर) 923 जीवों का भरत चक्रवर्ती के राजपुत्र होना और उसी भव से मोक्ष जाना, क्या यह सर्व भवितव्य और पुरुषार्थ की ऐक्यता की सूचक नहीं है?

चरमशरीरी बलभद्र रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की तैयारियाँ हुई, क्या उस मंगल कार्य का शुभ-मुहूर्त, शुभ-घड़ी, राज-ज्योतिषी ने नहीं शोधी थी? फिर किस कारण से उस घड़ी में उनका राज्याभिषेक न होकर, भ्राता भरत का राज्याभिषेक हो गया? और रामचन्द्रजी को पत्नी सीता तथा भ्राता लक्ष्मण के साथ वनवास गमन करना पड़ा? 'ऐसा ही होगा' - ऐसा सर्वज्ञ के ज्ञान में झलका था या नहीं? उसी के अनुरूप निमित्त मिलेंगे, या नहीं तदनुसार ही बाह्य पुरुषार्थ आदि होंगे या नहीं?

उक्त केवलज्ञानगम्य करणानुयोग एवं प्रथमानुयोग के कथन, हमें क्रमशः सर्वज्ञदेव की त्रिकालज्ञता एवं पुण्य-पाप कर्मों की फलादेयता समझाने के लिए पर्याप्त उदाहरण हैं। यद्यपि द्वीपायन मुनि ने भगवान नेमिनाथ की दिव्यध्वनि में समागत उनके निमित्त से द्वारका-दहन की बात को नकारने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी थी? परन्तु क्या वे सर्वज्ञ की वाणी को गलत सिद्ध कर सके? इसी तरह जरतकुमार ने भी यह सुनकर कि उनके बाण से भ्राता श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी, उसको नकारने के लिए क्या कोई कसर छोड़ रखी थी? परन्तु क्या वे भी सर्वज्ञ की वाणी को गलत सिद्ध कर सके? इसी तरह मारीचि कुमार ने भी क्या कुछ नहीं किया? परन्तु हुआ वही, जो भगवान आदिनाथ की दिव्यध्वनि में आया था।

यह तो हुई केवलज्ञानी की बात, अब अन्य अवधिज्ञानी आदि की भी सुनो! सती अंजना, जब दासी के साथ जंगल में अपने पापकर्मोदयवश भटक रही थी और वहाँ अवधिज्ञानी मुनिराज से यह पूछने पर कि - 'हे स्वामी! मेरे गर्भ में कौन पापी जीव आया है, जिससे मुझे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ रही हैं? तब उन मुनिराज ने अवधिज्ञान से जानकर अंजना से कहा - 'ऐसा मत कह बेटी! तेरे गर्भ में तो चरम-शरीरी हनुमान कामदेव विराजमान हैं और अब तेरे कष्टों का अन्त शीघ्र होनेवाला है। तू चिन्ता मत कर।' तो जो मुनिराज ने बतलाया था, वही हुआ कि कुछ अन्यथा हुआ?

अष्टांग निमित्तज्ञानी, अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने अन्तिम सम्राट चन्द्रगुप्त के दुःस्वप्नों का फल जो जाना था, वैसा ही उत्तरभारत में बारह वर्षों का अकाल आदि घटित हुआ था या नहीं? यद्यपि केवलज्ञान में वस्तु के परिणमन का झलकना, उसके वैसे परिणमन का कारण नहीं है। उपादान-वस्तु, पाँच

समवायपूर्वक जैसा परिणमन भविष्य में करेगी, वैसा केवलज्ञान का ज्ञेय भविष्य में होगा या अभी भी वे जानते हैं? वह तो वर्तमान में वर्तमानवत् स्पष्ट ज्ञेयरूप झलक रहा है।

अगर कोई ऐसा माने कि केवली-सर्वज्ञ-परमात्मा, भूतकाल एवं वर्तमानकाल की सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को तो जानते हैं, क्योंकि वे सर्व पर्यायों हो चुकी हैं, अतः उनमें कुछ रद्दोबदल किया ही नहीं जा सकता, परन्तु भविष्यत्कालीन पर्यायों को वे नहीं जानते हैं तो क्या ऐसा माननेवाले सर्वज्ञमत के बाहर नहीं हैं?

सर्वज्ञ के ज्ञान का ज्ञेय-ज्ञायक-सम्बन्ध व्यवहार से है - ऐसा कहे जाने पर भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वे परमार्थतः लोकालोक को (छहों द्रव्यों को, अरूपी द्रव्यों को, भिन्न-भिन्न प्रदेशों की प्रत्यक्षता सहित) सकल निरावरण पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा जानते तो हैं। मात्र उससे तन्मय नहीं होते, अतः व्यवहार कहा गया है। ज्ञेय-ज्ञायक, भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, अतः व्यवहार कहा है। इसप्रकार सर्वज्ञ का भविष्यज्ञ नहीं मानना, सर्वज्ञ का अवर्णवाद है।

इस भय से कि जब सब-कुछ निश्चित है तो फिर मेरा पुरुषार्थ क्या रहा? क्या सिद्ध भगवान ने पुरुषार्थ करना छोड़ दिया? क्या जीव का पुरुषार्थ, पर में चलता है? पर में तो नहीं, किन्तु क्या अपनी पर्यायों के फेरफार करने में आगे-पीछे करने में चलता है? अरे, जिसे सर्वज्ञकथित वस्तु-व्यवस्था समझ में आ जाती है, उसको समस्त कर्तृत्वभावरूप कर्ता-भोक्ता-बुद्धि तथा ज्ञाता-बुद्धि का भी अभाव हो जाता है; दृष्टि, निजस्वभाव पर आ जाती है, यही स्वरूपानुभूतिरूप सम्यक् निश्चय पुरुषार्थ है, जो अतीन्द्रिय सौख्य-प्रदाता है।

भगवती आराधना (गाथा 142 से 153) में कहा है कि साधु को अनियत-विहारी होना चाहिए और जो मुनि, वसतिका, गाँव, नगर, उपकरण, स्वसंघ, श्रावक आदि इन सब में जो ममत्वरहित हैं, वे साधु ही अनियत-विहारी हैं।' यह तो वस्तुतः उपदेश है, तथापि सर्वज्ञ के ज्ञान में सब कुछ ज्ञात है - यह नहीं भूलना चाहिए।

मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की प्रधानता है - यह एक निर्विवाद सिद्धान्त है, तथापि अन्य अबुद्धिपूर्वक के समवायों को (स्वभाव, निमित्त, होनहार, काललब्धि) सर्वथा गौण नहीं किया जा सकता है; इसीलिए तो आचार्य-भगवन्तों ने यह कहा है -

तादृशी जायते बुद्धिः, व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहायास्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता ॥

अर्थात् बुद्धि, व्यवसाय और सहायक कारण-कलाप आदि सभी समवाय, एक होनहार का ही अनुसरण करते हैं। तथा -

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्भिमुच्यते ॥

अर्थात् यह जीव स्वयं ही कर्म (मोह-राग-द्वेष भाव) करता है, स्वयं उसका फल भोगता है। स्वयं संसार में (चतुर्गति में) प्रतिभ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त हो जाता है अर्थात् प्रत्येक जीव की कार्य-सीमा, उसके अपने परिणामों तक ही होती है।

मारीचि-कुमार, वर्धमान महावीरस्वामी के रूप में चौबीसवाँ तीर्थकर बनने से पूर्व प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ हुआ, पश्चात् भव-भवान्तरों के बाद विदेहक्षेत्र में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी हुआ; जबकि इन श्रेष्ठ पदों की प्राप्ति बिना जिनधर्म धारण किये, बिना सम्यक्त्व पाये नहीं हुआ करती, अर्थात् पूर्व में सम्यक्त्व-रत्न खोकर, उसी जीव ने पुनः सिंहपर्याय में अप्रतिहत पुरुषार्थ प्रगट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया और फिर दसवें भव में भगवान महावीर हुआ।

इस तत्त्वचर्चा से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कार्योत्पत्ति में पाँच समवायों का जुटना, होना अनिवार्य है। किसी एक समवाय का पक्षपात मिथ्यात्व ही है। सर्वज्ञ-भगवान को त्रिकालज्ञ या भविष्यज्ञ नहीं मानना केवली का अवर्णवादरूप मिथ्यात्व ही है। अन्त में आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी के शब्दों में अपना परिचय प्रदायक छन्द प्रस्तुत है -

मैं हूँ जीवद्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेरों;
लगयो है अनादि तैं कलंक कर्ममल को ।
ताहि को निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को ।
रागादिक भावनि को पाय कै निमित्त पुनि,
होत कर्मबन्ध ऐसो है बनाव जैसे कल को ।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बनै तो बनै यहाँ उपाव निज थल कौ ॥ 36 ॥

इत्यलम् । भद्रं भूयात् । दर्शन-विशुद्धिः भवतु ।

- ब्र. हेमचंद्र जैन 'हेम' भोपाल

पण्डित श्रीमान बाबुलालजी जैन का एक और पत्र

दि. 4.12.06

श्रीमान पण्डित अभयकुमारजी एवं पं. हेमचन्द्रजी, सादर जयजिनेन्द्र ।

आप दोनों के मेरे लेख के उत्तर मिले। मेरा विषय था कि जीव एवं पुद्गल में पर्याय की योग्यताएँ एक समय में अनेक प्रकार की होती हैं; उनमें से किसी एक योग्यता को एक समय में जीव, अपने पुरुषार्थ से प्रगट करता है, जो पर्याय उत्पन्न करता है वह केवलज्ञान में झलकी हुई है। अगर एक ही पर्याय-योग्यता मानेंगे तो पुरुषार्थ की जरूरत ही नहीं रहेगी। वह पर्याय तो होगी ही, वही होती है। जब एक ही योग्यता है, तब उपदेश देने की दरकार नहीं है और अनुकूल निमित्त का अवलम्बन लेने की भी दरकार नहीं है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है और जिससे पुरुषार्थ का अभाव होता है। निमित्त के लिए कहना पड़ा है कि कर्म होता है, तब निमित्त अपनी योग्यता से अपने आप उपस्थित रहता है, अवलम्बन नहीं लेना पड़ता। आचार्यों का उपदेश देना मात्र पद्धति है, उपदेश देना भी एक स्टाईल है क्योंकि कार्य तो अपनी-अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में अपने आप होता है; इसलिए आपको त्याग करने का उपदेश, धर्म का आचरण करने का उपदेश, सम्यक्त्व-प्राप्ति का उपदेश सभी अप्रयोजनभूत हो जायेंगे। व्यवहार ही नहीं, निश्चय भी निश्चयपने से रहित हो जाएगा। सभी आगम-ग्रन्थों का उपदेश और आपका उपदेश भी मात्र पद्धति रह जायेंगे।

इसकी जगह यह माना जाये, जो आगम-अनुकूल है कि एक समय में अनेक प्रकार की पर्याय-योग्यता द्रव्य में रहती है; उसमें से यह जीव श्रुतज्ञान के द्वारा कोई पर्याय प्रगट करने का पुरुषार्थ करता है और उसके अनुकूल निमित्त का अवलम्बन लेता है। इसप्रकार पुरुषार्थवाद की पुष्टि होती है, आगम-आज्ञा का पालन होता है। गौणरूप से नियतिवाद भी केवलज्ञान के आधार से माना जाता है, जो श्रद्धा का विषय है। प्रवृत्ति तो श्रुतज्ञान के आधार से होती है, पाँच समवाय भी अच्छी तरह सिद्ध हो जाते हैं।

आज तक आचार्यों ने सम्यक् पुरुषार्थवाद का ही कथन किया है। अब

नियतिवाद की मुख्यता करना कहाँ तक उचित है? यह सम्यक् नियतिवाद में से सम्यक् शब्द मिट जायेगा, मात्र नियतिवाद रह जायेगा। जिससे अन्याय, अनाचार की प्रवृत्ति आगम के नाम से, आगम के आधार से, सम्यक्त्व के नाम से होगी, वस्तु-व्यवस्था मिट जायेगी। ज्ञानी को तो आगामी काल में होने वाली स्थिति को भी समझना चाहिए।

कर्त्तापन मिटाने से नहीं मिटता, परन्तु स्वभाव का आलम्बन लेने से, पर का कर्त्तापना नहीं रहता और स्व का कर्त्तापना भी मिट जाता है। कषाय के रहते हुए आत्मा का कषाय करने का कर्त्तापन मिटाया जायेगा तो स्वच्छन्दीपना हो जायेगा। निश्चयालम्बी के समान आचरण हो जायेगा।

मैंने पहले पण्डित टोडरमलजी के ग्रन्थ अध्याय दो का प्रमाण लिखा था। अब आपको एक प्रमाण जो आचार्य विद्यानन्दजी का प्रमाण-परीक्षा का है, जहाँ उन्होंने लिखा है कि 'योग्यता, स्वविषय, ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय, क्षयोपशम विशेष ही है अर्थात् अपने-अपने विषय-सम्बन्धी ज्ञानावरणादि तथा वीर्यान्तराय का क्षयोपशम विशेष ही योग्यता है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 259-260 में भी यही बात कही है।

आगम के अलावा युक्ति/न्याय भी उपयुक्त बात को मंजूर करता है। व्यक्ति प्रमाण नहीं होता, आगम प्रमाण होता है।

मुझमें इतनी योग्यता तर्क करने की नहीं है। मैंने तो जो लिखा, अपनी समझ की कसौटी पर कसने के लिए लिखा है। कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें।

- बाबूलाल जैन

ब्र. हेमचन्द्रजी जैन का जवाब

धर्मपुरुषार्थरत, धर्मभ्राता, आदरणीय विद्वद्भ्य, श्रीयुत् बाबुलालजी जैन
(कलकत्तावाले)

नयी दिल्ली,
सादर जयजिनेन्द्र,

अत्र स्वाध्यायामृतपानबलेन कुशलं तत्राप्यस्तु। आपका दि. 4 दिसम्बर 2006 का पत्र, पण्डित श्री अभयकुमारजी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य (देवलाली) के माध्यम से प्राप्त हुआ; जिसमें आपने अपने लेख 'नियति बनाम पुरुषार्थ' पर हम दोनों के समीक्षात्मक लेखों को पढ़कर पुनः अपने भाव व्यक्त किये हैं। आपका मन्तव्य है कि 'यदि हम किसी जीवद्रव्य की किसी क्षण विशेष में एक ही प्रकार की पर्याय-योग्यता मानेंगे तो पुरुषार्थ की जरूरत नहीं रहेगी, जबकि जीव व पुद्गल में एक समय (क्षण) विशेष में अनेक प्रकार की पर्याय-योग्यता पड़ी रहती है तथा उस क्षण-विशेष में हम (संज्ञी जीव) जिस पर्यायरूप कार्य को प्रगट करना चाहते हैं, तदनुकूल निमित्तों को जुटाकर, प्रगट कर सकते हैं।'

आपने अपने उक्त मन्तव्य के पोषण में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 259-260 तथा परीक्षामुख ग्रन्थ का सूत्र - 'स्वावरण-क्षयोपशम-लक्षण-योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति। प्रत्यक्षमिति शेषः 112/9 11उद्धृत किये हैं तथा मूल लेख में भी आपने अन्त में तत्त्वार्थसूत्र राजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 3, वार्तिक 7-10 को उद्धृत किया है।

मान्यवर ! उपरोक्त कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथाओं में तो लब्धि व उपयोग की स्थिति एवं प्रवृत्ति को स्पष्ट किया गया है कि इन्द्रियज्ञान (भावेन्द्रियां + भावमनरूप ज्ञान) तो पाँचों इन्द्रियों एवं द्रव्यमन से अपने-अपने योग्य विषयों को जान सकने की योग्यता वाला प्रगट (व्यक्त) रहने पर भी एक काल में किसी एक इन्द्रिय-द्वार से ही ज्ञान (जाननेरूप) उपयुक्त होता है, पाँच इन्द्रिय द्वारों से नहीं अर्थात् शेष चार इन्द्रियों द्वारा तथा मन के माध्यम (द्वारों) से जाननेरूप क्रिया, उस क्षण-विशेष में रुक जाती है, नहीं होती है। जब मन, ज्ञान से उपयुक्त हो, तब इन्द्रिय-ज्ञान नहीं होता। उपयुक्त हो रहे ज्ञान को उपयोग तथा अनुपयुक्त रूप ज्ञान को लब्धि संज्ञा है।

Utilized part of knowledge is termed 'Upayoga' and unutilized part of knowledge is termed 'Labdhi'.

छद्मस्थ जीव की एक समयवर्ती क्षयोपशमिक ज्ञान-दर्शन-वीर्य की पर्याय में जितनी जानने की सामर्थ्य/जान सकने की ताकत व्यक्त रहती है, उसका समग्र भाग उपयोगरूप से प्रयुक्त नहीं हो पाता, अल्पांश ही उपयोगरूप हो पाता है, शेष लब्धिरूप पड़ा रहता है अर्थात् अनुपयुक्त बना रहता है। वस्तुतः ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव के जो जानने की शक्ति होती है, वह लब्धि कहलाती है। वह तो पाँच इन्द्रियों और मन द्वारा जानने की शक्ति एक काल में ही रहती है, किन्तु उसकी व्यक्तिरूप उपयोग की प्रवृत्ति, जब जिस ज्ञेय से उपयुक्त होती है, तब एक काल में एक ही से उपयुक्त होती है, ऐसी ही क्षयोपशम की योग्यता है। यही बात न्यायग्रन्थ के परीक्षामुख के उक्त सूत्र में कही है कि 'अपने आवरणकर्म के क्षयोपशम लक्षणवाली योग्यता से प्रत्यक्ष-प्रमाण (ज्ञान) प्रतिनियत पदार्थों के जानने की व्यवस्था करता है। इस ज्ञान का यह पदार्थ ही विषय है, अन्य नहीं - ऐसी व्यवस्था को प्रतिनियत व्यवस्था कहते हैं और ज्ञानावरण व वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशमरूप योग्यता को ही प्रतिनियत विषय का नियामक कारण कहते हैं अर्थात् ज्ञान के उघाड़/क्षयोपशमानुसार ही ज्ञेय जाना जाता है, ज्ञेय के कारण या ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता।

इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि पाँच इन्द्रिय एवं छठे मन के विषयों को जान लेने रूप क्षयोपशम (ज्ञान) तो एक काल में व्यक्त (मति-श्रुतादिरूप) विद्यमान रहने पर भी वह उन सभी विषयों को उपयोग में युगपत् नहीं जान सकता, क्रम-क्रम से ही जान सकता है। जबकि सर्वज्ञदेव जग-त्रय, काल-त्रय को युगपत् अक्रम से जानते हैं।

अब आपका चिन्तन है कि 'यह संज्ञी जीव, जबकि अपनी इच्छारूप पुरुषार्थ से जिस भी इन्द्रिय या मन के विषय को जानना चाहता है, जान सकता है।' सामान्यतः यह उपदेशात्मक व्यवहार-वचन कथंचित् योग्य प्रतीत होने पर भी नियामकता लिये हुए नहीं है, क्योंकि जब यह जीव, सविकल्प धर्म्यध्यानरूप तत्त्व-विचार, प्रतिक्रमणादि, सामायिकादि, मन्त्र-जाप्यादि में उपयोग को बुद्धिपूर्वक एकाग्र कर रहा होता है, तब उपयोग अबुद्धिपूर्वक या कदाचित् बुद्धिपूर्वक भी विषयान्तर हो अन्या-अन्य ज्ञेयों में चला जाता है; इसके नहीं चाहने पर भी उपयोग न जाने कहाँ-कहाँ की सैर कर आता है। पृथक्त्व-वितर्क-वीचार शुक्लध्यानरूप शुद्धोपयोग की दशा में भी क्षयोपशम ज्ञान की योग्यतावशात् अबुद्धिपूर्वक ज्ञप्ति-परिवर्तन हो जाया करता है।

यद्यपि जानना जीव का स्वभाव है, उससे आसन्न-बन्ध भी नहीं है, किन्तु, बुद्धिपूर्वक 'जानने जाना' यह कषाय सहित होने से आसन्न-बन्धकारक है। रागी विकल्पबुद्धिवाले जीव को, इन्द्रिय-मन के विषयों को जानते हुए राग-द्वेषात्मक भाव होने लगते हैं; अतः उपदेश तो बुद्धिपूर्वक इन्द्रिय-विषयों से हटने का, उनको बुद्धिपूर्वक त्यागने का ही दिया जायेगा और दिया भी जाना चाहिए।

वस्तुतः न ही परद्रव्य और न ही उनको जाननेवाला ज्ञान कषायोत्पादक है, न बन्धकारणता लिये हुए हैं तथापि पर का लक्ष्य/आश्रय करते ही इस की कषायें भड़क उठती हैं। इसीलिये समयसार, गाथा 265 में बाह्य परवस्तु को अध्यवसान का आश्रय-निमित्त होने के कारण त्याग कराया है। निश्चय से तो विपरीताभिनिवेशरूप अध्यवसान ही बन्ध के कारण हैं और मुख्यतः बाह्य वस्तुओं के अवलम्बन से इस जीव को अध्यवसान भाव उत्पन्न होने लगते हैं, अतः उनका त्याग कराया जाता है।

परमार्थतः यह आत्मा, स्वभाव से ही परवस्तु के ग्रहण-त्याग से रहित (शून्य) तथा परद्रव्यरूप से परिणमित होने को अभाव-स्वभाव वाला है; तथापि उपदेश तो पुरुषार्थ-प्रेरक ऐसा ही दिया जायेगा कि निजशक्ति को छिपाये बिना यथाशक्ति व्रत-शील-संयम धारण करो, पापों से डरो, पापकर्म छोड़ो, अहिंसक आचरण द्वारा कर्मों का क्षय करो। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 73 में अष्ट मूलगुणधारी को ही जिनदेशना का पात्र कहा है।

तथा आपने जो तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/3 सूत्र की 7/10 वार्तिक में जो यह शंका उठायी कि "भव्य जीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायेगा? जिसका समाधान आपने मात्र इतना पढ़कर कि भव्यों की कर्म-निर्जरा का कोई काल निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही.....यदि काल ही सब का कारण मान लिया जाये तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण-सामग्री का ही लोप हो जायेगा।"

अध्यात्मवेत्ता विद्वद्भ्यः! आप कृपया उक्त शंका का समाधान पूरा-पूरा पढ़िए; तब आपको लगेगा कि किस विषय की प्ररूपणा में यह वार्तिक/टीका लिखी गयी है। विषय निसर्गज एवं अधिगमज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति विषयक है तथा किसी एक भव्य जीव की अपेक्षा से समाधान नहीं किया गया है; बल्कि आसन्न भव्य, दूर भव्य, दूरातिदूर भव्य जीवों की विवक्षा से तथा कार्योत्पत्ति में 'काल ही' को (मात्र एक काल प्रत्यय ही को) नियामक कारण माननेवाले को और बहिरंग

व्यवहार-रत्नत्रय साधन व अन्तरंग मोहनीयकर्म के अभावादि को कारण नहीं माननेवाले को यह समाधान दिया है। मैं उक्त विषयक चर्चा का राजवार्तिक का पूरा पृष्ठ 279 के यहाँ फोटो कॉपी रूप में संलग्न कर रहा हूँ। निवेदन करना चाहता हूँ कि आप अपने चिन्तन पर पुनर्विचार करें। विशेष कर समाधान में आये निम्नोक्त वाक्यों/शब्दों पर ध्यान दें-

उत्तर - 'यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शन से मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था, पर मोक्ष तो ज्ञान और चारित्र सहित सम्यक्त्व से स्वीकार किया गया है। अतः यहाँ मोक्ष का प्रश्न ही नहीं है। फिर भव्यों की कर्म-निर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है, और न मोक्ष का ही। कोई भव्य संख्यात काल में सिद्ध होंगे, कोई असंख्यात और कोई अनन्त काल में। कुछ ऐसे भी हैं, जो अनन्तानन्त काल में भी सिद्ध नहीं होंगे; अतः भव्य के मोक्ष के काल के नियम की बात उचित नहीं है। जो व्यक्ति, मात्र ज्ञान से या चारित्र से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं, उनके यहाँ 'कालानुसार मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाये तो बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री का ही लोप हो जायेगा।'

इसके बाद की वार्तिक 11-12 में सूत्र (तन्निर्गमदधिगमाद्वा) में आये 'तत्' शब्द मात्र सम्यग्दर्शन के ग्रहण के लिए है, न कि मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि) के लिए यह स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है।

यदि कोई उचित बहिरंग साधन की सन्निधि के बिना ही कार्योत्पत्ति माने, मात्र काललब्धि की प्रतीक्षा करता बैठा रहे तो अज्ञानी ही है, शुष्क-ज्ञानी है, निश्चयाभासी है। मोक्ष-प्राप्ति में निर्ग्रन्थता, भेद-रत्नत्रय (व्यवहार-रत्नत्रय, महाव्रत आदिरूप व्यवहार-चारित्र या सराग-चारित्र) रूप जिनदीक्षा धारण किये बिना अन्य किसी भी भेष से मोक्ष नहीं हो सकता, किन्तु उचित अनुकूल बहिरंग साधन मात्र से निश्चय-रत्नत्रयरूप, वीतराग विज्ञानता रूप आत्मधर्म की या मोक्ष की प्राप्ति होना माने तो कार्य-सिद्धि नहीं होगी, उसके लिए तो स्वानुभूतिस्वरूप निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐक्यतारूप निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना अनिवार्य है। तत्त्व-निर्णय बिना सच्चे स्व-पर भेद-विज्ञान के बिना, शरीर-मन-वाणी एवं शुभाशुभ-भाव (पुण्य-पापरूप विभावभाव) अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बुद्धि छूटे बिना, परद्रव्य एवं परभावों में स्व-स्वामी सम्बन्ध की कल्पना का अभाव हुए

बिना बाह्य व्रतादिरूप आचरण मात्र पुण्यास्रव-बन्ध को ही साधता है, किन्तु शुद्धात्मानुभूति/शुद्धोपयोग स्वरूप निश्चय संवर-निर्जरा-रूप वीतरागता को नहीं साध सकता। यद्यपि यह मोक्षमार्ग का उचित समीचीन बाह्य कारण है, अतः इसे तत्त्वज्ञानपूर्वक परम्परा मोक्ष का हेतु/कारण/साधन कहा है। यह व्यवहार-पुरुषार्थ, भूमिकानुसार अनुकूल उपयोगी साधन है, उपादेयरूप साध्य नहीं है; इसे भी धर्म-पुरुषार्थ की संज्ञा जिनागम में है, जो निश्चय स्वरूपोपलब्धि के लक्ष्य से इस निमित्तभूत बाह्य व्यवहार-संयम को धारण करते हैं, वे भी धन्य हैं, उनका जिनधर्म पाना सफल है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो चारों गतियों में सम्भव है, किन्तु सकल-संयम की योग्यता मात्र नरदेही को ही है।

अब जहाँ व्यवहार-सम्यग्दर्शन का भी ठिकाना न हो, तत्त्व-निर्णय सच्चा न हो तथा कैसे भी व्यवहार-संयम को धारण कर, मात्र कालक्षेप करते हों, अपने माथे ऊपर कई आरम्भ क्रियाजनक प्रोजेक्टों को लिए भ्रमण करते हों, नये-नये तीर्थों के निर्माण में या उसकी पूर्णता होने के विकल्पों में जिनका उपयोग फँसा रहता हो, क्या उन्हें सच्चा व्यवहार संयमी कहा जा सकता है? फिर भी वे 'हमसे तो अच्छे हैं' क्या इस तर्क से उनको सच्चा साधक-सन्त कहा जाये? मुनिराजों की तुलना तो अरिहन्तों से की जानी चाहिए, श्रावकों से नहीं। क्या इन्हें सच्चा मोक्षमार्गी माना जा सकता है? मेरी स्वयं की तीव्र अभिलाषा है कि मैं भी गृह-विरत उत्कृष्ट श्रावक होऊँ, पीछे जिन-दीक्षा धारण कर नरजन्म सफल करूँ। परन्तु हो सकता है - शायद मेरे में सच्चे शिष्यत्व की कमी होने के कारण सच्चे निश्चय-व्यवहार-रत्नत्रय धारक गुरु नहीं दिखायी पड़ रहे हैं! इसका मुझे भारी खेद भी रहता है। शायद स्वयं के पुरुषार्थ की कमी हो! चत्तारि शरणं पव्वज्जामि।

मान्यवर ! आप सर्वज्ञ, क्रमबद्धपर्याय, पुरुषार्थ सभी मान्य कर रहे हैं। फिर भी एकान्तपुरुषार्थ से वांछित पर्याय-योग्यता, तदनुकूल निमित्तों का अवलम्बन लेकर प्रगट की जा सकती है - यह भी मान रहे हैं। तो इसमें विचारणीय बिन्दु इतना ही है - यदि अनुकूल निमित्त मात्र के जुटा लेने से वांछित फल की कार्य-सिद्धि हो ही जाती हो तो सभी को कर ही लेना चाहिए - यह दाव अवसर चूकने योग्य नहीं है। आप स्वयं तत्त्व-मर्मज्ञ हैं, प्रवचनकार हैं, लेखक हैं, उक्त कथन में यदि मुझसे कुछ आगम-विरुद्ध लिखा गया हो तो अबोध बालक समझकर क्षमा कर देना। पत्र देना।

- ब्र. हेमचन्द जैन, 'हेम' देवलाली दिनांक 14. 1. 2007

पं. श्री अभय कुमार जैन का जवाब

देवलाली दि. 14.1.07

आदरणीय पं. श्री बाबुलालजी जैन कलकत्तावालों का लेख 'नियति बनाम पुरुषार्थ' प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दु विचारणीय हैं।

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 320-321-322 और गोम्मटसार गाथा-882 के कथन परस्पर विरुद्ध भासित हो रहे हैं, परन्तु दोनों कथन जिनागम के हैं; अतः इन दोनों का वीतरागता-पोषक आशय निकालना प्रत्येक मुमुक्षु की जिम्मेदारी है।

नियतिवाद के नाम पर स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ से वञ्चित रहकर निरुद्यमी या प्रमादी रहना, एकान्त नियतिवाद है - यह गोम्मटसार का आशय है। याद रहे कि मिथ्या-एकान्त, वस्तु-स्वरूप में नहीं है, मान्यता में है।

यही कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सम्यग्दृष्टि की मान्यता के रूप में आया है। जो नियति (क्रमबद्धपर्याय) की श्रद्धा करके, पर्यायों की कर्ताबुद्धि छोड़कर, स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ करते हैं, उनका श्रद्धान सम्यक् होने से वे सम्यक्-एकान्ती हैं।

2. पाँचों समवायों की निरपेक्ष स्वीकृति मिथ्या-अनेकान्त है तथा इनकी सापेक्ष स्वीकृति सम्यक्-अनेकान्त है।

3. आधुनिक नियतिवाद की मान्यता का जो उल्लेख किया गया है, वह आगम-अध्यात्म सम्मत है, अतः यह मान्यता आधुनिक नहीं, अपितु सनातन है। प्रसन्नता की बात है, आपने उनके भावों को सही समझकर, अपनी सहमति व्यक्त की है।

4. प्रत्येक कार्य में पाँच समवायों का समानरूप से योगदान है, मुख्यता-गौणता वक्ता के प्रयोजन और अभिप्राय के अनुसार कथन में होती है।

सम्यक् नियतिवाद तो बहुश्रुत है, परन्तु 'सम्यक् अनियतिवाद' शब्द कहाँ और किस विवक्षा से आया है? स्पष्ट करें।

किसी पदार्थ में विवक्षित समय में एक ही योग्यता होती है। इसका सबल प्रमाण वह कार्य स्वयं है, जो उस विशिष्ट योग्यता के फलस्वरूप हुआ है। 'अलंघ्यशक्तिर्भविताव्यतेयं - हेतुद्वयाविष्कृत-कार्य-लिङ्गा' पदार्थ में अनेक प्रकार की योग्यताएँ हैं - यह सामान्य कथन है, जो अनेक समयों की अपेक्षा से है। यदि

विवक्षित समय में अनेक योग्यताएँ मानी जाएँ तो विचारिये कि-

अ. कोई एक योग्यतानुसार ही कार्य क्यों हुआ?

इ. अन्य जिन योग्यताओं के अनुसार कार्य नहीं हुआ, वे व्यर्थ हो जाएँगी - क्या यह सम्भव और उचित है?

उ. अनेक योग्यताएँ जो हैं, उनमें से एक योग्यता का चुनाव/रुचि/रूझान जड़ पदार्थों में सम्भव नहीं है तो वहाँ पुरुषार्थ कैसे घटित होगा? चेतन में माना जाए तो किसी विशिष्ट योग्यता का चुनाव ही क्यों हुआ? अन्य का क्यों नहीं? इसका कारण क्या?

ऊ. किसी एक योग्यता का चुनाव क्या बिना इच्छा या विकल्पों के सम्भव है? यदि नहीं तो क्या अमुक पर्यायों के होने या न होने की इच्छा का नाम पुरुषार्थ है? क्या इन विपरीत पुरुषार्थों से मोक्षमार्ग प्रगट होगा?

ए. किसी एक योग्यता के चुनने की वाञ्छा में क्या पर्यायों की कर्ताबुद्धि का प्रसङ्ग नहीं आयेगा? तो फिर अकर्ता-स्वभाव की सन्मुखता और अनुभूतिरूप सम्यक् पुरुषार्थ कैसे होगा?

ऊ. जिस योग्यता का चुनाव किया जाएगा, वह सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात है या नहीं? यदि है तो पुरुषार्थ को नियति के अनुसार क्यों न माना जाये?

5. मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की प्रधानता है, क्योंकि स्वभाव, नियति और भवितव्य में कुछ भी नहीं करना है, ये वस्तु की सहज विशेषताएँ हैं। 'स्वभाव के निर्णय तथा महिमापूर्वक उसकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण की प्रवृत्ति ही पुरुषार्थ है।' इसमें जीव अपने ज्ञान में तत्त्व-निर्णय से आत्मलीनता तक सारे प्रयत्न करता है, अतः मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की प्रधानता कही है।

वास्तव में अच्छे-अच्छे स्वाध्यायी और विचारक भी पुरुषार्थ के स्वरूप के बारे में भ्रमित मालूम पड़ते हैं। वे किसी विशिष्ट कार्य की भावना, तीव्र इच्छा, तदनुसार मानसिक विकल्प या अन्य चेष्टाओं को पुरुषार्थ समझते हैं; इन्हें लौकिक जगत में भले पुरुषार्थ कहा जाये, परन्तु परमार्थ से अकर्ता-ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा, लीनता ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है। इस दशा के पहले तत्सम्बन्धी विकल्प आये बिना नहीं रहते, अतः उन्हें भी उपचार से उस विवक्षित कार्य का पुरुषार्थ कहा जा सकता है।

आचार्यों ने मनुष्यगति के जीवों की (अपेक्षा) मुख्यता से उपदेश दिया है कि

‘हे जीव! तू पञ्चेन्द्रिय-विषयों का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप का अवलम्बन ले। इस मनुष्यभ्रम की सार्थकता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में है। यदि तू इसे भोगों में ही गँवा देगा तो नरक-निगोदादि में जाना पड़ेगा’.....

इस उपदेशी भाषा से लोगों को ऐसा लगने लगता है कि एक पर्याय में अनेक योग्यताएँ होती हैं और उनमें से रत्नत्रयवाली योग्यता को चुनकर, उसके लिए प्रयत्न करना ही पुरुषार्थ है, जो हम जब चाहे तब कर सकते हैं।’

पुरुषार्थ की प्रेरणा देने के लिए इसी भाषा में उपदेश देना सम्भव है, अन्यथा नहीं। अब जो जीव, रत्नत्रय के लिए भी सच्चा पुरुषार्थ करना चाहेगा, फिर यदि वह पर्यायों की कर्ताबुद्धि (इच्छानुसार परिणमन करने के अभिप्राय) को ही पुष्ट करेगा तो स्व-सन्मुखता का पुरुषार्थ कैसे होगा? प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न होती है - ऐसे यथार्थ निर्णय बिना स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ कैसे प्रगट होगा? अतः अपनी विशिष्ट योग्यता से अपने स्वकाल में विवक्षित पर्याय होती है - ऐसा निर्णय करके, स्वसन्मुख होने में पुरुषार्थ और नियति में कहाँ विरोध है? अनेक योग्यताओं में से एक का चुनाव तो अनेक विकल्पों को ही जन्म देगा। जबकि तत्समय की योग्यता सुनिश्चित मानने पर पर्यायों की चिन्ता ही खत्म हो जाएगी और सहज सन्मुखता का पुरुषार्थ प्रगट हो जाएगा।

पाँच समवाय का नियम तो प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक पर्याय में घटित होना चाहिए, जबकि चुनाववाली बात केवल मनुष्यपर्याय में विकल्पों में घटित होती है।

जरा विचारिये कि निगोद से निकल कर, व्यवहार राशि में आनेवाला जीव, कैसे चुनाव करेगा? इसी प्रकार अरहन्त भगवान, सिद्ध पर्याय का चुनाव किस प्रकार करते हैं? अपनी विवक्षित पर्याय की योग्यतानुसार परिणमन करने में द्रव्य की वीर्यशक्ति का परिणमन ही पुरुषार्थ है। यह परिभाषा प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय पर घटित होती है।

यदि हम अपनी इच्छा/रुचि/रुझान के अनुसार पर्यायों का चुनाव करके उस रूप परिणमन कर सकते हैं तो -

अ. राजा ऋषभदेव, 83 लाख वर्ष पूर्व तक गृहस्थ अवस्था में क्यों रहे? क्या उनकी रुचि/रुझान गृहस्थी के भोगों में थी ?

इ. वे एक हजार वर्ष पूर्व तक मुनि अवस्था में क्यों रहे? कैवल्य का दशा का चुनाव क्यों नहीं किया?

उ. वे एक लाख पूर्व तक तेरहवें गुणस्थान में क्यों रहे? सिद्ध अवस्था की रुचि/रुझान/चुनाव क्यों नहीं किया? इसप्रकार जो व्यवस्था उन पर घटित होगी, वह सभी जीवों पर क्यों नहीं घटित होगी?

6. बाह्य निमित्तों के अनुसार पदार्थों में परिणमन होता है? या जैसा परिणमन होता है, उसमें अनुकूलता का आरोप करके पदार्थ को निमित्त कहा जाता है? (सम्पूर्ण निमित्त-उपादान व्यवस्था विचारणीय है।) ऐसे अपने परिणमन-धारा के सुनिश्चित क्रमानुसार परिणमन का पुरुषार्थ मानने पर पुरुषार्थ और नियति का सुमेल होता है।

7. ‘स्वावरणक्षयोपशमलक्षण’ सूत्र से रुचि/चुनाव के अनुसार ज्ञेयों को जानने की व्यवस्था प्रदर्शित हो रही है या प्रत्येक पर्याय अपने क्षयोपशम की योग्यतानुसार ज्ञेय को जानती है - यह व्यवस्था प्रतिपादित हो रही है?

प्रत्येक समयवर्ती पर्याय की क्षयोपशमलब्धि तथा उपयोगरूप परिणमन भिन्न-भिन्न (भले ही स्थूलदृष्टि से एक जैसा) होता है, अतः चुनाव की व्यवस्था कैसे घटित होगी?

8. रुचि अर्थात् इच्छानुसार परिणमन होना माने तो वह परिणमन स्वतन्त्र न रहकर इच्छा के आधीन हो जायेगा। किसी विशिष्ट परिणाम की इच्छा मोह के उदय से होती है, किन्तु वह परिणाम तत्समय की योग्यतानुसार होता है। विवक्षित परिणाम की चाह तो राग है जो मोक्षमार्ग में बाधक है। साधक जीव को भी रागात्मक परिणामों की भूमिका होने से उसे सत्संग, स्वाध्याय तथा निर्मल परिणामों की भावना अवश्य होती है, परन्तु निर्मल परिणाम, इस पूर्ववर्ती राग से नहीं अपितु तत्समय की योग्यतानुसार जीव के स्वसन्मुख पुरुषार्थ से होते हैं। पूर्ववर्ती राग, इसमें निमित्त-कारण कहा जाता है।

9. जैसी योग्यता वैसा वस्तु का परिणमन एवं तदनुकूल पुरुषार्थ मानने में पुरुषार्थ का लोप नहीं, अपितु परिवर्तन करने की कर्ताबुद्धि तथा चुनाव के विकल्परहित सम्यक् पुरुषार्थ की स्थापना होती है।

10. उपदेश में कर्तापने का व्यवहार आये बिना नहीं रहता, अन्यथा उपदेश ही सम्भव नहीं है। जैसे, मिथ्यात्व का त्याग करने के लिए तत्त्व-निर्णय का ही उपदेश दिया गया है और तत्त्व-निर्णय अर्थात् ज्ञायक-स्वभाव के सन्मुख होकर उसका अनुभव करना; अतः उपदेश में करने की भाषा होने पर भी प्रयोग में कर्ताबुद्धि तथा कर्तृत्व के विकल्पों के अभावरूप परिणमन में ही सच्चा पुरुषार्थ मानना योग्य है।

11. यह तथ्य सभी स्वीकार करते हैं कि केवलज्ञान द्वारा ज्ञान होने पर भी वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र और केवलज्ञान से निरपेक्ष है। ज्ञान और ज्ञेय परस्पर निरपेक्ष होने पर भी उनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहना व्यवहार है। ज्ञान में ज्ञेय जैसा प्रतिबिम्ब होना ज्ञान का ही परिणमन होने से पारमार्थिक है - यह कथन मात्र व्यवहार नहीं है।

ज्ञेयपदार्थ केवलज्ञान से भिन्न हैं, अतः ज्ञेयों द्वारा केवलज्ञान का परिचय देना पराश्रित होने से व्यवहार है। यह व्यवहार, हमारे श्रुतज्ञान में या कथन में है, न कि केवलज्ञान या लोकालोकरूप ज्ञेय में।

12. पुरुषार्थ तो स्वयं पर्याय है, अतः उसका आश्रय करने का आशय, स्वभाव के आश्रयपूर्वक उस रूप परिणमन करना है, क्योंकि स्वभाव का आश्रय (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) ही पुरुषार्थ है। कार्योत्पत्ति में शेष चार समवाय का सक्रिय योगदान नहीं है, परन्तु उनका स्वरूप समझकर, कर्ताबुद्धि तोड़कर, अकर्ता-ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति और लीनता ही पुरुषार्थ है। ज्ञायकभाव में अनन्त शक्तियाँ तथा धर्म आदि सब गर्भित हैं।

राजवार्तिक का कथन, छद्मस्थ की अपेक्षा तथा अभी वर्तमान में पुरुषार्थ की प्रेरणा के प्रयोजन से है। तत्त्वार्थसूत्र के 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' - इस सूत्र के अन्य वार्तिक भी अवलोकनीय हैं।

मूल बात यह है कि पर्यायों पर दृष्टि रखकर उनके क्रम में परिवर्तन करना पुरुषार्थ है या पर्यायों से दृष्टि हटाकर स्वभाव का आश्रय करना पुरुषार्थ है? 'पुरुषार्थ करो'.... यह उपदेश की भाषा है तथा परमार्थ का उपदेश व्यवहार द्वारा सम्भव है। इस पुरुषार्थ का भी विकल्प तोड़कर सहज निर्विकल्प अनुभूति रूप परिणमन करना ही पुरुषार्थ है।

कुछ नहीं करने की अनुभूति ही 'पुरुषार्थ' है। जैसे आराम करने में कुछ नहीं करना होता है। काललब्धि के भरोसे निरुद्यमी/आलसी हो जाना मिथ्या नियतिवाद है तथा काललब्धि द्वारा सर्वज्ञता और सर्वज्ञ-स्वभाव का निर्णय करके स्वभाव-सन्मुख होना सम्यक् नियतिवाद है। आशा है, इस दृष्टि से विचार करने पर अनेक योग्यताओं में से एक योग्यता चुनाव-सम्बन्धी मान्यता का निराकरण हो जाएगा।

- अभय कुमार जैन,

17, कहान नगर, लाम रोड, देवलाली (नासिक) 422 401

मो.

अकषाय भाव ही सच्चा धर्म है

- स्व.श्री पण्डित कैलाशचंद्र सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी

आठ कर्मों में सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है, उसे कर्मों की सेना का सेनापति कहा जाता है। वही संसार की जड़ है। जब तक उस पर प्रहार नहीं होता, तब तक सब धर्म-कर्म निष्फल होता है। मोहनीयकर्म के मुख्य भेद दो हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय का मौलिक भेद तो एक मिथ्यात्व ही है और चारित्रमोहनीय के मुख्य भेद हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ; इनमें से प्रत्येक की चार जातियाँ हैं - अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अनन्तानुबन्धी, चारित्रमोह का भेद होकर भी उभयघाती है। यह सम्यक्त्व को भी घातती है और चारित्र को भी घातती है, इसका मिथ्यात्व के साथ गहरा गठबन्धन है, यह उसी के साथ जाती है। मिथ्यात्व जाये और अनन्तानुबन्धी न जाये - यह सम्भव नहीं। इन्हीं के उपशम होने पर अनादि मिथ्यादृष्टि को एक अन्तर्मुहूर्त के लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और उसके प्राप्त होते ही जीव का अनन्त संसार सान्त हो जाता है।

यद्यपि सम्यक्त्व चला जाता है, किन्तु संसार सान्त ही बना रहता है, उस जीव की मुक्ति सुनिश्चित है। अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल से अधिक वह संसार में नहीं रहता। इसी से आगम में कहा है कि 'जब जीव के संसार-भ्रमण का काल अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन शेष रहता है, तब उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, इसे ही 'काललब्धि' कहा है; अतः कषायों से छूटने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व से छूटना जरूरी है; क्योंकि मिथ्यात्व के हटे बिना अनन्तानुबन्धी नहीं जा सकती और अनन्तानुबन्धी के हटे बिना अप्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण के हटे बिना प्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के हटे बिना संज्वलन कषाय का विनाश सम्भव नहीं है। इसी से एकीभाव-स्तोत्र में वादिराज स्वामी ने कहा है -

'मुक्ति-द्वारं परिदृढं महामोह-मुद्रांक-वाटकम्।'

अर्थात् मुक्ति के द्वार पर अत्यंत दृढ़ महामोह के मुद्रा-सील से मुद्रित कपाट लगे हुए हैं। जब तक यह परिदृढ महामोह मुद्रा नहीं टूटेगी, मुक्ति का द्वार बन्द ही रहेगा। जो उसकी चिन्ता न करके कठोर संयम धारण करते हैं, अनेक प्रकार के

कायक्लेश उठाते हैं, वे पहाड़ से व्यर्थ ही सिर फोड़ते हैं। तत्त्व-परिज्ञान और श्रद्धा के बिना लाख चारित्र धारण करने पर भी उस महामोह का बाल भी बाँका होनेवाला नहीं है। यह महामोह मिथ्यात्व ही है, दूसरा कोई नहीं।

आ. अमृतचन्द्रजी की टीका में मोह का लक्षण – तत्त्वाऽप्रतिपत्ति या तत्त्व के स्वरूप को न जानना कहा है। ठीक भी है, जब तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व है तो मिथ्यात्व का लक्षण तत्त्व का अज्ञान, अश्रद्धा ही होना चाहिए।

किन्तु तत्त्व तो सात हैं और उसके मूल में हैं – जीव और अजीव इन दोनों के मेल से सात तत्त्व बने हैं; अतः सात तत्त्वों को समझने के लिए जीव और अजीव के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने श्रावकाचार को नाम दिया है – ‘पुरुषार्थसिद्ध्युपाय’ – पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय! प्रथम शब्द है ‘पुरुष’; अतः पुरुष का स्वरूप देते हुए वे लिखते हैं –

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा, विवर्जितः स्पर्श-गन्ध-रस-वर्णैः।

गुण-पर्यय-समवेतः समाहितः समुदय-व्यय-ध्रौव्यैः॥ १॥

अर्थात् ‘पुरुष अर्थात् आत्मा, चैतन्यस्वरूप है। वह स्पर्श-रस-गंध-रूप से रहित है। गुण और पर्यायसहित और उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप है।

इसके द्वारा उन्होंने आत्मद्रव्य के स्वरूप का वर्णन किया है। पुद्गल, रूप-रस-गंध-वर्ण-स्पर्शयुक्त होता है। पुरुष उनसे रहित है, चैतन्यस्वरूप है। आगे वे पुरुष के संसारी रूप का चित्रण करते हुए बताते हैं कि – वह कैसे संसारी बना हुआ है। वे लिखते हैं – वह चैतन्यस्वरूप आत्मा, अनादि परम्परा से निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि परिणामों से परिणमन करता हुआ, अपने रागादि परिणामों का कर्ता-भोक्ता होता है।

जब जीव, राग-द्वेष-मोहरूप परिणमता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप धारण करते हैं। इसी प्रकार जीव भी अपने चेतनास्वरूप रागादि-परिणामों से स्वयं परिणमन करता है, तब पौद्गलिक कर्म उसके निमित्तमात्र होते हैं। इस पुद्गलिकर्म में निमित्तमात्र रागादिभाव हैं और रागादिभाव में निमित्त पौद्गलिककर्म हैं। दोनों में मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है – ऐसा होते हुए भी आत्मा, अपने स्वभाव की अपेक्षा कर्म-निमित्तकभावों

से जुदा चैतन्यमात्र वस्तु है। इस प्रकार के आत्मस्वरूप की श्रद्धा होने पर ही मिथ्यात्व हटकर सम्यक्त्व प्रकट होता है, तभी मुक्ति का द्वार खुलता है और कषायों में मन्दता आना आरम्भ होता है।

ज्यों-ज्यों कषायों में क्षीणता आती जाती है, त्यों-त्यों आत्मस्वरूप की प्रतीति/अनुभूति होती जाती है और ज्यों-ज्यों आत्मस्वरूप की अनुभूति होती जाती है, त्यों-त्यों कषाय की मन्दता होती जाती है।

आत्मा की शुद्ध स्वरूपोपलब्धि का नाम मोक्ष है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। ये तीनों भी आत्मस्वरूप ही हैं। इसी से निश्चयनय से आत्मस्वरूप के विनिश्चय को सम्यग्दर्शन, आत्मा के परिज्ञान को सम्यग्ज्ञान और आत्मा में स्थिति को सम्यक्चारित्र कहा है। यह निश्चयमोक्षमार्ग, चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है। आचार्य जयसेन ने समयसार की टीका में लिखा है –

यदा काललब्धिवशेन भव्यत्वशक्तिर्व्यक्तिर्भवति.....शुद्धोपयोग इति पर्याय संज्ञा लभते।

अर्थ – जब काललब्धिवश भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव जिसका लक्षण है, उस अपने परमात्मद्रव्य से सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्अनुचरणरूप पर्याय से परिणमन करता है। उस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव कहते हैं, किन्तु अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि पर्याय नाम उसके हैं।

आगम और अध्यात्म के समन्वय को लिए हुए उक्त कथन इतना सुस्पष्ट है कि उसमें किसी प्रकार के सन्देह को कोई स्थान ही नहीं रहता; अतः जो विज्ञान, सम्यक्त्व के विषय में आगम-विपरीत कल्पनाएँ करते हैं, वे वस्तुतः विज्ञ नहीं हैं। सात-तत्त्वों की मोटी (स्थूल) श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्व तो नकली है, उससे अनन्त संसार सान्त नहीं होता, वह तो अभव्य के भी होता है। जिस आत्मज्ञान के बिना निर्दोष, निरतिचार द्रव्यलिंग का धारी भी मुनि ग्रैवेयक पर्यन्त ही जाता है, वही आत्मज्ञान सम्यक्त्व का प्राण है, उससे विहीन सम्यक्त्व नहीं है, मिथ्यात्व ही है। ऐसे सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव ही वास्तव में चारित्र धारण करने का पात्र होता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है -

मोहतिमिराऽपहरणे, दर्शनलाभादवाप्त-संज्ञानः ।

राग-द्वेष-निर्वृत्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥

अर्थ - मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से सम्यग्ज्ञान को प्राप्त साधु, राग-द्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को धारण करता है ।

अध्यात्म में क्रोध-मान-माया-लोभ को राग-द्वेष कहते हैं और मिथ्यात्व को मोह कहते हैं । जिसका मिथ्यात्वरूप मोह दूर हो जाता है, वही राग-द्वेष दूर करने के लिए चारित्र-धारण करने का अधिकारी है ।

एक शिक्षण शिविर में उसके अधिष्ठाता विद्वान को उक्त श्लोक का उत्तरार्थ ही पढ़ते हुए सुनकर मुझे साश्चर्य खेद हुआ । आज चारित्र के प्रेमी चारित्र की बात तो करते हैं, किन्तु उसकी जड़ सम्यक्त्व की चर्चा से कतराते हैं । जब जड़ में अनन्तानुबन्धी कषाय बैठी हुई है, तब आगे की कषाय मात्र ऊपरी चारित्र धारण कर लेने से कैसे दूर या मन्द हो सकती है? उसी का यह परिणाम है कि कषाय और चारित्र का गठबन्धन देखने में आता है । ऐसे चारित्र का फल द्वारका नगरी का विनाश था ।

दशलक्षण पर्व के प्रथम चार धर्म - उत्तम-क्षमा, उत्तम-मार्दव, उत्तम-आर्जव और उत्तम-शौच; क्रोध, मान, माया, लोभ के दूर होने पर या मन्द होने पर प्रगट होते हैं । मानव के व्यावहारिक जीवन के लिए ये चारों अत्यंत उपयोगी हैं । अति-क्रोध, अति-मान, अति-माया और अति-लोभ, मानव-जीवन को क्लुषित कर देते हैं । मनुष्य और परिवार की सुख-शान्ति को नष्ट कर देते हैं । आत्महत्याएँ, उन्हीं का फल है । मनुष्यों के अति-लोभ ने आज मानव-समाज को दुःख के गर्त में डाल दिया है । मनुष्य की तृष्णा, दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, वह शान्त नहीं होती । जिनके पास सब तरह के सुख-साधन हैं, उन्हें भी अन्याय से द्रव्य-संचय करते देखकर, खेद और आश्चर्य होता है । आखिर में वे इस अनावश्यक संचय का करेंगे क्या?

इसी वर्ष महावीर-जयन्ती पर मुझे जैनेतर विद्वानों की एक गोष्ठी में भाषण करने का प्रसंग उपस्थित हुआ । भगवान महावीर के सिद्धान्तों में आज के युग के अनुरूप व्यावहारिक सिद्धान्त अपरिग्रहवाद है । आज की स्थिति में अहिंसा और

अपरिग्रह - ये दो सिद्धान्त विश्व-शान्ति में सहायक हो सकते हैं, क्योंकि आज विश्व में हिंसा और परिग्रह के कारण ही विशेष अशान्ति है । भारत में भी यही स्थिति है; अतः सार्वजनिक भाषणों में अपरिग्रह का ही विवेचन किया जाता है । मेरे भाषण के पश्चात् प्रश्नोत्तर में एक कम्युनिस्ट विद्वान जैनों की आलोचना करने लगे । मैंने कहा, 'भाई ! सब धर्मों और उनके पालकों की यही स्थिति है । लोभ को छोड़ना सरल नहीं है । किन्तु वहाँ उपस्थित अन्य विद्वान भी कहने लगे - 'आपका कहना ठीक है; किन्तु अहिंसा और अपरिग्रह पर जितना जोर आपके धर्म में दिया गया है उतना अन्य किसी धर्म में नहीं दिया गया; अतः भगवान महावीर के अनुयायियों से विशेष आशा की जाती है कि वे भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद को जीवन में अपनायेंगे ।'

बात ठीक है, भगवान महावीर ने त्याग का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण जगत के सामने रखा है । आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में परिग्रह की कितनी निन्दा की है! दश धर्मों में आकिंचन्य धर्म उसी बात को कहता है, किन्तु जैसा प्रारम्भ में कहा है कि 'जब तक मनुष्य का मोह दूर नहीं होता, सच्चा त्यागभाव नहीं आता ।'

दशलक्षण पर्व, धार्मिक आचरण और शिक्षण की दृष्टि से बड़े महत्व का पर्व है; इसमें कषायों के त्याग पर विशेष जोर दिया गया है, किन्तु कुछ तो श्रोतागण सुनते-सुनते सुनने के भी अभ्यस्त हो जाते हैं और मात्र सुनने को ही सबकुछ मानकर निश्चिन्त हो जाते हैं । सुनने के पश्चात् उस पर गम्भीरता से विचार नहीं करते, इससे शास्त्र-श्रवण का स्थायी लाभ नहीं होता; फिर भी जो सुनने से कतराते हैं, उनसे तो सुननेवाले श्रेष्ठ ही हैं । सुनकर जो संस्कार मन पर पड़ता है, वह कभी न कभी प्रबुद्ध होकर काम भी करता है । मनुष्य, बुराई को भले ही न छोड़ सके किन्तु यदि उसके मन में बुराई के प्रति यह भावना पैदा हो जाती है कि बुराई नहीं करना चाहिए, तो यह भी कुछ कम लाभ नहीं है ।

अविरत सम्यग्दृष्टि, न तो जीवहिंसा का त्यागी होता है न इन्द्रिय-संयमी अर्थात् असंयमी होता है; फिर भी उसके मानस में असंयमभाव के प्रति एक तीव्र अरुचि जागृत हो जाती है, जो उसकी विषयासक्ति को बन्ध के बदले में निर्जरा का कारण बनाती है; अतः कषायों को घटाने के लिए आत्मस्वरूप का सतत विचार आवश्यक है, उसके बिना धर्म की सच्ची भावना जागृत नहीं होती ।

(- सन्मति सन्देश, अगस्त-सितम्बर 1980 से साभार)

जैन-महा सिद्धान्त-सूत्र

प्रवचनसार तथा परीक्षामुख से संकलित
संकलन - ब्र. हेमचन्द्र जैन, देवलाली

1. ज्ञान, ज्ञेयों का नहीं, ज्ञेयों से नहीं क्योंकि ज्ञेयों में नहीं।
2. ज्ञान इन्द्रियों का नहीं, इन्द्रियों से नहीं, क्योंकि इन्द्रियों में नहीं।
3. ज्ञान शुभा-शुभराग का नहीं, राग से नहीं, क्योंकि राग में ज्ञान नहीं, राग किसी को जानता नहीं।
4. ज्ञान, प्रकाश का नहीं, प्रकाश से नहीं, क्योंकि प्रकाश में नहीं।
5. ज्ञान आत्मा का है, आत्मा से है, क्योंकि आत्मा में है।
6. ज्ञान, राग को, इन्द्रियों को, प्रकाश को, अंधकार को जानता है; तथापि उनसे नहीं होता, आत्मा से ही होता है।
7. इन्द्रिय-ज्ञान हेय है, क्योंकि अन्त में वह ज्ञेयपक्ष में जाकर नष्ट हो जाता है।
8. ज्ञेयों के अनुसार ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के उघाड़ (क्षयोपशम) के अनुसार ज्ञेय जानने में आते हैं।
9. आत्मानुभव करने के लिए अवधि-मनःपर्यय - ये दोनों ज्ञान, इन्द्रियज्ञानवत् हेय हैं, क्योंकि उनके द्वारा पुद्गल की विशेषताओं को ही जाना जा सकता है, अरूपी आत्मा को नहीं।
10. मति-श्रुतज्ञानरूप प्रमाण-साधन से ही आत्मा जाना जाता है, अनुभव में आता है।
11. जाना गया विषय ज्ञान-पर्याय में नहीं आता है, मात्र उसका ज्ञान आता है।
12. अनुभवन के काल में ज्ञान स्वयं ही स्वयं को जानता है (नयपक्षान्तिक्रान्त ही समयसार होता है)
13. आत्मा/ज्ञान वस्तुतः पर को तन्मय होकर नहीं जानता है, पर सम्बन्धी अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है अर्थात् ज्ञेयाकाररूप अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है।
14. आत्मा/ज्ञान का निश्चय से परद्रव्यों (ज्ञेयों) के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।
15. आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, वह जानने के सिवाय अन्य कुछ नहीं करता, कर भी नहीं सकता।

16. जैसे, ज्ञान अपनी आत्मा को तन्मयपने जानता है, वैसे परद्रव्य को तन्मयपने से नहीं जानता, भिन्न-स्वरूपपने जानता है; इसलिए व्यवहारनय से पर को जानता है ऐसा कहा है, किन्तु पर को जान सकने का अभाव है इसलिए व्यवहारनय कहा है - ऐसा नहीं है। पर में तन्मय होकर नहीं जानता, इसलिए असद्भूत-व्यवहार-नय से (पर को जानता है) कहा है।
17. निश्चय से आत्मज्ञ, व्यवहार से सर्वज्ञ का अर्थ ऐसा नहीं समझना कि सर्वज्ञता असत्यार्थ है, केवली वास्तव में सर्वज्ञ हैं। तन्मयता सबके साथ नहीं, केवल स्व के साथ हैं।
18. आत्मा/ज्ञान स्वभाव से स्व-परप्रकाशक है, दीपक की तरह। स्वानुभूति काल में ही वास्तविक स्व-पर प्रकाशक पना प्रगट होता है। यही सच्चा प्रमाणज्ञान है। अनुभूति के बिना प्रमाणाभास ही है।
19. स्व-परप्रकाशक को अकेला पर-प्रकाशक माने तो वह मिथ्यात्व है।
20. ज्ञान (जाननेरूप पर्याय) से कर्मबन्ध होता है - ऐसा माने तो भी मिथ्यात्व है।
21. क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन-वीर्य, जो कि जीव के स्वभाव का ही अंश है, उससे कभी भी कर्मबन्ध नहीं होता।
22. ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय के उदय से जितने-ज्ञान-दर्शन-वीर्य अभावरूप हैं, (औदयिक अज्ञानभाव हैं) उनसे भी बन्ध नहीं होता।
23. अज्ञानियों के ज्ञान का मिथ्यापना, मिथ्यात्व की संगति से प्रयोजनभूत तत्त्वों के निर्णय में नहीं लगने और अप्रयोजनभूत तत्त्वों के निर्णय में लगे रहने के कारण से ही है।
24. निज-ध्रुव-चिदानन्दात्मा का अनुभव करके जो भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ, वह प्रमाणज्ञान है।
25. वास्तव में सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुष ही पण्डित है, क्योंकि वही सच्चे विषय और फल को जानता है।
26. सुख की प्राप्ति और दुख का परिहार करने में (स्व-परप्रकाशक) प्रमाण-ज्ञान ही समर्थ होता है।
27. सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे दोनों अचेतन हैं।
28. अज्ञान की निवृत्ति, अनिष्ट का त्याग, इष्ट का ग्रहण और राग-द्वेष रहित उदासीनता - ये प्रमाण के फल हैं।
29. आज्ञा-प्रधानी से परीक्षा-प्रधानी और परीक्षा-प्रधानी से अनुभव-प्रधानी श्रेष्ठ होता है।

दिनांक : 11-2-94

आदरणीय विद्वान श्री जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

सविनय जयजिनेन्द्र!

- आशा है आप सकुशल होंगे।

- मुझे प्रवचनसार की गाथा 157 की अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका में प्रयुक्त 'क्षयोपशम' शब्द को लेकर बहुत सारी शंकायें-प्रतिशंकायें विगत दो-ढाई साल से थीं। यहाँ-वहाँ विद्वानों को लिखता रहता भी था तता विद्वानों से पूछता रहता भी था, परन्तु कुछ ठोस समाधान अभी तक मिल नहीं पा रहा था। इस बार कुछ पत्राचार पं. राजमलजी जैन भोपाल वालों से हुआ तो अनायास उन्होंने मुझे आपके साथ हुए पत्राचार की प्रतिलिपि भेज दी, जिससे मेरे अधिकांश प्रश्नों का समाधान हो गया - अतः आपको बहुत-बहुत धन्यवाद! आपसे साक्षात् मिलने की भावना अत्यन्त बलवती हो गयी है। एक बार सागर में बान्द्री वाले पं. भुवनेन्द्रकुमारजी ने भी आपके संबंध में चर्चा की थी, परन्तु उस समय कुछ विशेष ध्यान नहीं गया था। परन्तु आपके द्वारा लिखित इस शंका-समाधान से मेरा हृदय एकदम गद्गद् हो गया है, आपके प्रति अत्यन्त श्रद्धा से अभिभूत भी हुआ है। मैं आपके शंका-समाधान को और अधिक व्यापक बनाने की दृष्टि से इसे प्रिन्ट करना चाहता हूँ। यदि आप स्वीकृति देंगे तो अत्यन्त कृपा होगी। कुछ विद्वानों की राय जानने हेतु भी इसे प्रेषित करना चाहता हूँ। पत्र-पत्रिकाओं में भी इसे प्रकाशित करवाना चाहता हूँ। आप अवश्य स्वीकृति देंगे। आपके समाधान से और भी कुछ बातें जेहन (मन) में आ रही हैं। जिनका समाधान भी चाहता हूँ -

1. शुभोपयोग की मर्यादा छठवें गुणस्थान तक ही है या सातवें गुणस्थान में भी शुभोपयोग जाता है या जा सकता है? क्या सातवें गुणस्थान में भी विकल्पात्मक शुभोपयोग संभव है या वहाँ निर्विकल्प दशा ही है। या शुभोपयोग भी निर्विकल्प होगा और यदि वहाँ निर्विकल्प अवस्था है तो वह शुद्धोपयोग ही कहलायेगा, शुभोपयोग क्यों? हमारा मानना तो ऐसा है कि मुनियों को छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग और सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही है। तथा छठवाँ गुणस्थान सविकल्पता का और सातवाँ गुणस्थान निर्विकल्पता का ही है। इसीप्रकार प्रवचनसार में चरणानुयोगचूलिका में जो दो प्रकार के मुनि कहे हैं - शुभोपयोगी

तथा शुद्धोपयोगी वहाँ भी शुभोपयोगी अर्थात् छठवाँ गुणस्थान तथा शुद्धोपयोगी अर्थात् सातवें गुणस्थानवर्ती की बात है। यदि ऐसा नहीं है तो मुनियों के उक्त दो भेद किसप्रकार हैं - क्या शुद्धोपयोग के सर्वथा अभाव में भी मुनिपना संभव है। यदि संभव है तो वहाँ भावहिंसा किस प्रकार घटेगा अर्थात् द्रव्यलिंगी संज्ञा प्राप्त होगी। क्या यह ठीक है।

शंका - 2. शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग या शुभभाव-अशुभभाव-शुद्धभाव या शुभपरिणाम-अशुभपरिणाम-शुद्धपरिणाम या पुण्य-पाप-धर्म या शुभोपराग-अशुभोपराग-वीतराग या शुभयोग-अशुभयोग या शुद्धयोग - उक्त सभी का एक ही तात्पर्य है या कुछ अन्तर है। इस प्रश्न को इस प्रकार भी पूछ सकते हैं कि उपयोग-भाव-परिणाम-योग आदि एकार्थवाची हैं या अन्तर है। विशेषतः उपयोग और भाव में क्या अन्त है?

मिथ्यादृष्टि को जिसप्रकार शुभोपयोग नहीं होता तो क्या उसे शुभभाव या पुण्यभाव भी नहीं होता। यदि होते हैं तो उसके शुभभाव या पुण्यभाव क्या अशुभोपयोग की संज्ञा पायेंगे।

करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग की परिपाटी के अनुसार क्या इन तीनों उपयोगों की व्याख्या अलग-अलग होगी या एक ही होगी। पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अध्याय में इस विषय को उठाया है। कृपया सविस्तार इसका खुलासा करना जी। उन्होंने तो दोनों अनुयोगों की कथन शैली में इनका अलग-अलग दृष्टिकोण स्थापित किया है, आखिर क्यों?

इसी सिलसिले में इस प्रश्न पर भी विचार आवश्यक प्रतीत होता है कि चौथे गुणस्थान से भी आंशिक शुद्धोपयोग स्वीकार किया जा सकता है क्या? चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम सम्यक्त्व को शुभोपयोग तथा क्षायिक या उपशम सम्यक्त्व करो शुद्धोपयोग की संज्ञा दी जा सकती है क्या? राजवार्तिककार ने तो क्षायिक सम्यक्त्व को 'वीतराग सम्यक्त्व' स्वीकार किया ही है, लेकिन उन्होंने भी उपशम सम्यक्त्व को वीतराग नहीं माना है। वहाँ क्या अपेक्षा है? कृपया स्पष्ट कीजिये।

यहाँ ऐसा तो नहीं है कि उपयोग की व्याख्या में पृथकतः दर्शनमोह की चर्चा नहीं की जा सकती; क्या चारित्र के साथ मिलाकर ही उसकी चर्चा हो सकती है। यदि ऐसा है तो सातवें आदि गुणस्थानों में भी चारित्रमोह पूर्ण शुद्ध नहीं हुआ है

अतः वहाँ भी शुभोपयोग ही मानना पड़ेगा; शुद्धोपयोग नहीं।

क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यक्त्व के प्रारंभकाल में भी शुद्धोपयोग नहीं है तो क्या उसे उपशम सम्यक्त्व या क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति मात्र शुभोपयोग परिणाम से ही हो जाती है। यहाँ प्रश्न है कि जो क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धों की अवस्था तक जाता है, वह शुभोपयोग परिणाम द्वारा कैसे हो सकता है? या वह स्वयं शुभोपयोगात्मक है?

एक और प्रश्न यह है कि चौथे गुणस्थान में सामान्यतः चारित्र मोह की स्थिति क्षयोपशम भाव रूप है या नहीं। क्या उसे क्षयोपशम चारित्र वाला कहा जा सकता है? इस प्रश्न को इसप्रकार भी पूछ सकते हैं कि अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में कुछ तो चारित्र हुआ कहना चाहिए। यदि हम कहें कि वहाँ चारित्र नहीं है तो क्या उसका चारित्र मिथ्या है यदि नहीं तो क्या सम्यक्त्व है यदि नहीं तो क्या वहाँ चारित्र का पारिणामिक भाव है। फिर शास्त्रकाल ऐसा क्यों लिखते हैं कि सम्यक्त्व के साथ ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं और उसके अभाव में मिथ्या रहते हैं। चारित्र का औदयिक भाव मानें तो मिथ्या भी मानना पड़ेगा।

इसी संदर्भ में एक और प्रश्न है कि चारित्र और संयम एकार्थवाची हैं या कुछ भिन्नता है। क्या जहाँ-जहाँ चारित्र है, वहाँ-वहाँ संयम है और जहाँ-जहाँ संयम नहीं है, वहाँ-वहाँ चारित्र भी नहीं है।

एक और प्रश्न - चतुर्थ गुणस्थान के क्षायिक सम्यक्त्व तथा ऊपर-ऊपर के क्षायिक सम्यक्त्व में अन्तर है? सम्यक्त्व के दश भेदों के माध्यम से यह प्रश्न खड़ा होता है कि उक्त भेद मूलतः श्रद्धागुण से संबंध रखते हैं या अन्य गुणों का उपचार करके सम्यक्त्व के दश भेद किये गये हैं। ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में सम्यक्त्व के लब्धि स्थानों में अन्तर माना गया है क्या? उसका क्या अर्थ है? लब्धि स्थान के भेद से सम्यक्त्व की शुद्धि में भेद मानना उचित है क्या? क्षायिक सम्यक्त्व कहें या निश्चय सम्यक्त्व की ही बात है या अन्तर है। फिर निश्चय सम्यक्त्व को निश्चय चारित्र का अविनाभावी कैसे कहा? यदि अविनाभावी है तो इसका गुणस्थान क्या होगा? कृपया समझाइये।

इसप्रकार बहुत सारी शंकायें-प्रतिशंकायें हैं, जिनका समाधान नहीं हो पा रहा है।

शुभोपयोग आदि तीन भेद करणानुयोग को मान्य हैं या नहीं। यदि नहीं तो करणानुयोग पद्धति में उपयोग की व्याख्या किसप्रकार हैं। उपयोग के ज्ञानात्मक भेदों से इन तीनों भेदों का क्या संबंध है। यदि है तो जिसप्रकार ज्ञानात्मक भेदों में लब्धि-उपयोग की व्यवस्था है, उसीप्रकार शुभोपयोग आदि में लब्धि उपयोग की व्यवस्था कैसे बनेगी। यदि बनेगी तो किसप्रकार बनेगी और नहीं बनेगी तो क्यों नहीं बनेगी? इसका वर्णन किन ग्रन्थों से जानना चाहिये। धवला आदि में इसप्रकार की चर्चा है क्या? मतिज्ञान आदि ज्ञानोपयोग के भेद हैं तथा शुभोपयोग आदि चारित्र गुण के भेद हैं - ऐसा कह सकते हैं क्या? या शुभोपयोग आदि से श्रद्धा गुण भी संबंधित हैं? तथा चारित्र गुण में परिणति-उपयोग की व्यवस्था बनेगी क्या? जैसे शुद्धोपयोग के समय परिणति में अबुद्धिपूर्वक शुभराग तथा शुभोपयोग के समय एक-दो-तीन कषाय चौकड़ी के अभाव रूप शुद्ध-परिणति - ऐसा स्वीकार कर सकते हैं क्या? यदि हाँ तो इसका कोई आगम प्रमाण मिलता है क्या?

उक्त प्रश्नों के समाधान स्वरूप यदि कोई पुस्तिका भी बन सकती हो तो मुझे वह छुपाने की भावना है। यदि उसमें कुछ विलम्ब लगता हो तो कृपया मुझे पत्राचार के रूप में समाधृत करने की कृपा करेंगे।

पुनश्च: शुभोपयोग के संबंध में एक शंका और भी यह है कि शुभोपयोग यदि क्षयोपशम भाव है तो क्षयोपशम भाव का दूसरा नाम मिश्र भाव भी है तो क्या इसे मिश्रोपयोग कहा जा सकता है? मिश्रोपयोग से तात्पर्य क्या होगा? मिश्रोपयोग अर्थात् राग-वीतराग का मिश्रपना शुद्ध-अशुद्ध उपयोग का मिश्रपना मानना होगा तो क्या यह उचित है। पुनः प्रश्न होगा कि दो उपयोग एक साथ हो सकते हैं क्या? यदि हाँ तो उसका शास्त्राधार क्या है? यदि नहीं तो मिश्रोपयोग कैसे सिद्ध होगा? इसे ऐसे भी मान सकते हैं - यदि यहाँ दो उपयोग मिलकर मिश्र नहीं हुये हैं बल्कि मिश्र रूप एक ही उपयोग है, जो दोनों उपयोगों से भिन्न कोई तीसरी जाति का ही है। और उसीप्रकार उत्पन्न होता है। लेकिन इसमें एक शंका होती है कि यहाँ हम अंश कल्पना (येनांशेण.....आदिरूप) कर सकते हैं क्या? तब वह अंश कल्पना, कल्पना ही होगी या सत्य भी। यदि कल्पना है तो उससे क्या लाभ है और यदि सत्य है तो उन्हें अलग-अलग भाव ही मान लें क्या? और जो शुद्ध वीतराग अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण और जो अशुद्ध शुभ रागांश है, वह आस्रव बंध का कारण - ऐसा मान लें/अथवा मिश्ररूप भाव या उपयोग, वह सम्पूर्ण रूप से आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा का कारण मानें। लेकिन

ऐसा मानने पर टोडरमलजी के इस वचन के साथ विरोध आता है कि एक ही भाव आस्रवबंध का कारण भी हो तथा वही संवर-निर्जरा का कारण भी हो - ऐसा संभव नहीं है। जैसे शुभभाव स्वर्ग का भी कारण और वही मोक्ष या संवर-निर्जरा का भी कारण, वही संसार का कारण और वही मोक्ष का कारण कैसे बनेगा। क्या कारण-विपर्याय आदि के दोष नहीं आयेंगे?

यहाँ एक प्रश्न और है कि 8-9-10 गुणस्थान तक चारित्र का कौनसा भाव है - यहाँ क्षयोपशम भाव ही मानना पड़ेगा। यद्यपि उपशम या क्षपक श्रेणी में उपशम या क्षय का उद्यम चालू है, श्रेणी चालू है, तथापि चारित्र मोह का सम्पूर्ण उपशान्तपना या क्षयपना क्रमशः 11-12 गुणस्थान में ही होता है, अतः उसके पूर्व क्षयोपशम ही मानना होगा, फिर 8-9-10 गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग कैसे बनेगा, वहाँ भी शुभोपयोग मानना चाहिये। यदि श्रेणी में भी शुभोपयोग मानेंगे तो आचार्यों ने कहा तो शुद्धोपयोग हैं। क्या यहाँ बुद्धिपूर्वक उपयोग शुभ है या शुद्ध है, इससे निर्णय करेंगे या शुद्धोपयोग की ओर उन्मुख होने से शुभोपयोग मानेंगे। यदि हम कहते हैं कि बुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव नहीं होने से शुद्धोपयोग माना है सो प्रश्न है कि 4-5-6 गुणस्थान में भी यदा-कदा सामायिक के काल में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से कभी-कभी शुद्धोपयोग मानेंगे। वहाँ अधिकांशतः बुद्धिपूर्वक राग का राग का सद्भाव होने से अधिकांशतः शुद्धोपयोग नहीं है - ऐसा मानना चाहिये। 4-5-6 गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही नहीं - ऐसा नहीं मानना चाहिये। ऐसा भी कह सकते हैं कि 4-5-6 गुणस्थान में मुख्यता से शुद्धोपयोग नहीं है, शुभोपयोग है और गौणरूप से शुद्धोपयोग भी है। और आगे के 7 से 10 गुणस्थान तक मुख्यतया शुद्धोपयोग है और गौणता से शुभोपयोग है तथा 11-12 गुणस्थानों में मुख्यगौण का प्रश्न ही नहीं है अर्थात् शुद्धोपयोग ही है, शुभोपयोग बिल्कुल नहीं।

अथवा क्षयोपशम भाव की स्थिति में जो अंश उपशम या क्षय के हैं, उतना शुद्धोपयोग तथा जो अंश देशघाति के उदय रूप हैं, उतने अंश में शुभोपयोग हैं - ऐसा मानना चाहिये, उसी प्रकार उसी अनुपात में आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा की भी व्यवस्था मानना चाहिये।

- राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

भोपाल : 11-2-94

प्रिय धर्मभ्राता आत्मार्थी

श्री पं. राकेशकुमारजी जैन शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य

सविनय जयजिनेन्द्र! सह शुद्धात्म-स्मरण

“शोभित निज अनुभूति चिदानन्द भगवान् ।

सार पदारथ आत्मा सकल पदारथ जान ॥”

अत्र स्वाध्याय बलेन कुशलं तत्राप्यस्तु/मुनिवर आचार्य श्री विद्यासागरजी को मेरा प्रणाम, नमोऽस्तु विदित करें। आपकी जिनागम प्रमाण से जीवादि सप्त तत्त्वों को निश्चय (भूतार्थ/सत्यार्थ) एवं व्यवहार (अभूतार्थ/उपचार) दृष्टियों से समझने की तीव्र रुचि प्रशंसनीय/अनुकरणीय है। तत्त्वचर्चा में भले ही हम-आप मतैक्य न बन पाने से खेदित हो लें, परन्तु मुझे अंतरंग हृदय से अनुयोगों से दोष-कल्पनाओं का निराकरण करते हुये सामाधान प्राप्त करने हेतु उत्सुक हैं एवं जिनवाणी का निरन्तर स्वाध्याय, चिन्तन, रसपान करते हैं?

मेरी मंद बुद्धि में आज तक जिनवाणी के स्वाध्याय से एवं विभिन्न मनीषियों के चिन्तन व प्रवचनों के माध्यम से यही निष्कर्ष हाथ लगा है कि -

1. शुभाशुभ भावों/शुभाशुभोपयोग का उत्पन्न होना मिथ्यात्व नहीं है।
2. समस्त परद्रव्य-परभावों से भिन्न निज ध्रुव ज्ञानानन्दमयी आत्मा में निजरूप रुचि, प्रतीति, श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना सम्यक्त्व लाभ नहीं है।
3. सम्यक्त्व/ज्ञान लाभ बिना मुक्तिमार्ग (सम्यक्चारित्र) प्राप्त नहीं है।
4. आठों कर्मों में मात्र मोहनीय कर्म का पूरा परिवार (दर्शनमोहनीय + चारित्र मोहनीय) ही जीव को मंदतीव्र स्थिति-अनुभाव बन्ध का हेतु हैं।
5. संक्षेप में मिथ्यात्व, कषाय (अविरति, प्रमाद कषाय) एवं योग यह 3 मूल द्रव्य-भाव प्रत्यय ही जीव को कर्म बन्ध के हेतु हैं।
6. शुभ-अशुभ कषाय भावों से साता-असातादि प्रकृतियों का बंध एवं आत्मगुण घातक-घातिकर्मों का भी बन्ध होता है निरन्तर।
7. मिथ्यात्व एवं द्वेष (एकान्त से) अशुभ भाव ही हैं, जबकि राग शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का होता है। और समस्त ही शुभाशुभ भाव कर्मास्रव-

- बंध के हेतु हैं। अर्थात् मोह (मिथ्यात्व), राग, द्वेष से भाव ही स्थिति-अनुभाग बन्ध होता है। देखें - प्रवचनसार गाथा 180 ता.वृ. टीका।
8. मिथ्यादृष्टि (व्रती-अवृत्ति) एवं सम्यग्दृष्टि (व्रती-अव्रती) दोनों को यथायोग्य भूमिकानुसार/कर्मादयानुसार शुभोपयोग-अशुभोपयोग हुआ करते हैं।
 9. समस्त संसारी जीवों को बंध के 5 प्रत्ययों की मंदता-तीव्रतानुसार ही नवीन द्रव्यकर्मों का मंद-तीव्र आस्रव-बंध हुआ करता है तथा जिस जीव के (सम्यक्त्वी के) जो-जो प्रत्यय चले गये हैं (नष्ट हो गये हैं) उन-उनके निमित्त से होनेवाला आस्रव-बंध रुक जाता है, भले वे अशुभ-शुभ-शुद्ध उपयोग रूप परिणामन कर रहे हों।
 10. काया और कषाय भावों में एकत्व बुद्धि होना ही निश्चय से मिथ्यात्व है।
 11. असमान जातीय द्रव्य पर्याय में एवं व्रतादि रूप मंद प्रशस्तकषाय में एकत्वरूप उपादेय बुद्धि का होना ही प्रकारान्तर से (देव गुरु धर्मादि की सच्ची व्यवहार श्रद्धा होने पर भी) सूक्ष्म मिथ्यात्व है जो निज ध्रुवचैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से छूट सकता है। (पंचास्तिकाय गाथा-165 टीका)।
 12. जीव के असाधारण 5 भावों (औपशमिक, क्षायिक, मिश्र-क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (जीवत्व) में से मात्र मोहोदय सहित औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं।
 13. औपशमिक एवं क्षायिक भाव पूर्णतः निर्मल भाव/परिणाम/पर्याय है, औदयिक पूर्णतः समल/मलिन/भाव/परिणाम/पर्याय है। क्षायोपशमिक भाव मिश्र भाव/परिणाम/पर्याय है; उसमें सर्वघाति प्रकृतियों के अनुदय/सदवस्थारूप उपशम से निर्मलता एवं देशघाति प्रकृतियों के उदय से मलिनता सहित जो एक मिश्र भाव/परिणाम/पर्याय है उसे क्षायोपशमिक भाव संज्ञा है। पारिणामिक भाव इन चार भावों/पर्यायों से भिन्न (अताद्भाविक भिन्नता) वाला अनादि अनन्त एक रूप स्वभाव हैं, उत्पाद व्यय रहित एक द्रव्यरूप ध्रुव शाश्वत भाव है। यही एक रूप शाश्वत वर्तता पारिणामिक भाव (शुद्ध जीवत्व भाव) ध्येय, ज्ञेय, श्रद्धेय कहा है।
 14. उपरोक्त पारिणामिक (शुद्ध जीवत्व) भाव एवं पर्यायभाव (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक) में मात्र अताद्भाविक अन्यत्व होता

है, प्रदेश भिन्नता रूप पृथक्त्व नहीं। अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय यह तीनों एक अभेद सत्तारूप ही रहते हैं।

15. औपशमिक भाव (सम्यक्त्व/चारित्र) के बिना मोक्षमार्ग/धर्मभाव नहीं होता।
16. पारिणामिक भाव व्यक्त पर्याय की शुद्धता-अशुद्धता के व्यवहार से शून्य (रहित) होता है। अतः बन्ध-मोक्ष की कल्पना विरहित एक सद्रूप चिद्रूप तद्रूप भाव है।

तत्त्वं साल्लक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः वा स्वतः सिद्धम् ।

तस्मादनादि निधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥पंचाध्यायी 8॥

17. एक अभेदसत् द्रव्य में (गुण पर्यायवद्रव्यम्) गुणों व पर्यायों (तिर्यक् प्रचय व ऊर्ध्वप्रचय) का भेद (अताद्भाविक भाव होने से) समझने के लिए ही किया जाता है। वस्तुतः अभेद एक सत् है। गुणों का पर्यायों का आधार एक द्रव्य ही है।
18. गुणस्थानों का वर्णन मोह+योग निमित्तक ही है और ये ही (मोह+योग) कर्मबंध के कर्ता-करण हैं। अर्थात् मोहोदय सहित परिणाम ही बंध साधक हैं।
19. जैसे चारित्रमोहोदयजन्य विभाव भाव (कषाय) की मंदता-तीव्रता कर्मबंध की स्थिति अनुभाग की नियामक/निर्णायक होती है वैसे ही दर्शन मोहोदय जन्य विभाव भाव (मिथ्यात्व) की मंदता-तीव्रता भी कर्मबंध की स्थिति-अनुभाग की नियामक कारण है। अन्यथा गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का कोई अर्थ (आत्मा का अहित करने में) नहीं रह जायेगा। सरागी देवों (क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि) को भजनेवाला जैन एवं मात्र वीतरागी देवों को भजनेवाला जैन एक सदृश (शुक्ललेश्या) परिणाम वाले हों तो क्या दोनों को एकसा ही कर्म का स्थिति-अनुभाग बंध पड़ेगा? यह तर्क विचारणीय है। इसे गौण करना मिथ्यात्व पोषक है।
20. जैसे औदयिक (मलिन) पर्याय बंध कारक है वैसे ही क्षायोपशमिकपर्याय (दर्शनचारित्र मोहापेक्षा) में जो समलता अंश है वह बंधकारक है और जो निर्मलता अंश है वह संवर-निर्जराकारक है। इसीलिए इसे मिश्रभाव भी

- कहा है।
21. इस एक क्षायोपशमिक मिश्रभाव/परिणाम/चारित्र पर्याय से आस्रव-बंध-संवर निर्जरा मानना योग्य नहीं, उपचार कथन हो सकता है, परमार्थ कथन नहीं फिर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों के भी शुभोपयोग होता है तो उन्हें भी संवर निर्जरा मानना पड़ेगी, जो आगम विरुद्ध है, मिथ्यात्व पोषक है।
22. जो निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग से भ्रष्ट हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि हैं। 4-5-6वें गुणस्थानवर्ती हैं - शुभोपयोगी हैं (या कदाचित् अशुभोपयोगी हों) तब भी उसे सविकल्पदशा वाला सम्यग्दृष्टि ही कहा है न कि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि।
23. जब 6वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज जो कि (प्रमत्तावस्था रूप, महाव्रतादि रूप सराग सकल चारित्र के पालने रूप), सविकल्पदशा रूप उत्कृष्ट शुभ उपयोग रूप परिणमित हो रहे हैं, क्या तब उन्हें 'बहिरात्मा/मिथ्यादृष्टि' कहा जा सकता है? कदापि नहीं। हाँ, स्वभाव लीनता रूप शुद्धोपयोग दशा (निर्विकल्प समाधि रूप दशा) से च्युत होकर शुभोपयोगरूप सविकल्प दशा में आ जाने से उन्हें बाहिर अवस्थित अन्तर्बहिरजल्प में स्थित भले कहा जा सकता है, किन्तु बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि कदापि नहीं। क्या राजा श्रेणिक (क्षायिक सम्यक्त्वी) के जीव (नारकी) को बहिरात्मा कहा जा सकता है?
24. जो धर्म करना चाहता है उसके लिए प्रथम शर्त अपने प्रति पूर्ण ईमानदार सत्यभाषी एवं संसार परिभ्रमण के कारणों से पूर्णतः भयभीत होना अत्यन्तावश्यक है। दिखावटी, बनावटी, सजावटी धर्म से कोसों दूर रहना परमावश्यक है।
25. आज जो धार्मिक व्यक्ति सदाचारी पापभीरु हैं उन्हें मानार्थी/लोभार्थी वक्ता एवं श्रोता राजनीति रूप माया प्रपंचजाल फैलाकर अधार्मिक सिद्ध कर रहे हैं एवं स्वयं सदाचारी न होने पर भी धनमद आदि के बल पर धर्मात्मा कहलाने का ढोंग कर रहे हैं।

“बाढ़ खेत खाने लगी, पंच करें अन्याय।
उदासीन राजा भये, न्याय कौन पै जाय।।”

26. व्यवहारी जीवों को व्यवहार धर्म ही शरण होता है अर्थात् शुभाचरण छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवृत्ति रखना (अशुभोपयोगी रहना) योग्य नहीं है। ऐसा नहीं मानने वाला व्यक्ति नरक निगोदगामी होता है। (मो.मा.प्र. पृष्ठ 203 से 205, 253)।
27. आगमानुकूल व्यवहार व्रतों का पालने वाला (विकल/सकल संयमधारी) जीव पूज्यपने को प्राप्त होता है, किन्तु तत्त्व समझने की विशेष जिज्ञासा न होने से अथवा अध्यात्म रसास्वादी धार्मिक मुमुक्षु जीवों के प्रति ईषाभाव रखने से मात्र व्यवहाराभासी होकर संसार में ही परिभ्रमण करने वाला होता है।
28. आगमानुकूल संयम/संयमासंयम पालने वालों के प्रति जिसके मन में आदर भाव नहीं हो, वह सच्चा मुमुक्षु नहीं हो सकता, वह शुष्क ज्ञानी है।
29. जो इस नर पर्याय एवं जिनधर्म की उत्कृष्टता पहिचान लेता है, वह अपने ज्ञान को गिरवी नहीं रखकर धर्म की सब दुकानों पर जाकर धर्म का मर्म जानकर स्वयं में धर्म प्रगट करने का अप्रतिहत पुरुषार्थ जागृत कर लेता है। जो किसी सम्प्रदाय, संघ या व्यक्ति से बंध जाता है उसे सत्य पाने में भारी कठिनाई होती है, शायद पर्याय पूर्ण होने का धर्म का स्वाद (सहज शांति, निराकुलत्व लक्षण अतीन्द्रिय आनन्दानुभूति) नहीं ले पाता है और खाली हाथ चला जाता है।
30. जिसे मात्र व्यवहार धर्म की रुचि हो गई और निश्चय वीतरागधर्म की चाह नहीं होती, अथवा तत्त्व निर्णय पूर्वक मिथ्यात्व का निर्वाण नहीं करता, उसे संसार का अन्त नहीं आता।

शुभकर्म जोग सुघाट आया, पार हो दिनजात हैं,

द्यानत धर्म की नाव बैठो, शिवपुरी कुशलात हैं।

“सम्यग्दर्शनज्ञान व्रत इन बिन मुक्ति न होय,

अंध पंगु अरु आलसी जुदै जलैदव लोय।।”

समग्र दि. जैन समाज की एकता एवं संगठन का मैं हृदय से पक्षधर हूँ। 20-9-94 को मेरी आचार्य श्री विद्यासागरजी से हुई तत्त्वचर्चा से मुझे लगा कि आचार्यश्री भी यही चाहते हैं कि समग्र दि. जैन समाज एक हो धर्म की महती

प्रभावना करें। परन्तु आचार्यश्री के मन में सोनगढ़, जयपुर (टोडरमल स्मारक) के बारे में गंभीर गलत फहमिया (Misunderstandings) बन गई हैं जो दूर करने योग्य हैं - जैसे (1) मुमुक्षु मण्डल के सदस्य/व्यक्ति गोम्मटसार, हरिवंश पुराणादि आगम ग्रन्थों का बहिष्कार करते हैं/निष्कासन कर देते हैं। जबकि गोम्मटसार की टीका (सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका) पं. टोडरमल स्मारक से ही प्रकाशित हुई हैं एवं स्वाध्याय प्रेमी चाव से पढ़ते हैं। सत्य बात यह है कि कोई भी मुमुक्षु बन्धु हरेक पूर्व दिगम्बर आचार्यों की कृतियों को गले लगाता है, परम आदरभाव से देखता है। (2) सोनगढ़/जयपुर वाले देवशास्त्रगुरु की उपासना/पूजा को भी पाप बतलाते हैं। जबकि वे लोग नियमित रूप से भक्तिभाव से पंचपरमेष्ठी भगवन्तों की प्रतिदिन उपासना/पूजन करते हैं। (3) सोनगढ़, जयपुर से छपे शास्त्रों में तत्त्व विरुद्ध प्ररूपणा है - (शुभोपयोग को हेय बतलाया है, अधर्म भाव तक कहा है) सो आगम-अध्यात्म के आलोक में इस बात का निर्णय हमें करना चाहिये। श्री योगेन्दुदेव ने योगसार में “पुण्यतत्त्व पण पाप छे, बिरला जाने कोय।” लिखा है, जिसका मतलब है कि राग (शुभ से भी) वीतराग (शुद्धभाव) नहीं प्रगटता क्योंकि रागभाव-वीतरागभाव (धर्म) का प्रतिपक्षी है। राग से बन्ध एवं वीतराग भाव से निर्बंधता (संवर, निर्जरा) होती है। अतः श्रद्धान को सम्यक् बनाने के लिए यह ज्ञान में प्रथम दो टूक निर्णय होना चाहिये कि ‘शुभ हो या अशुभ कामना, रागबन्ध की डोरी है, आकुलता की पोरी है।’ परन्तु जब भी शुद्ध/वीतरागभाव प्रगटेगा, अतः उपचार से शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण कहा जाय तो बाधा नहीं, किन्तु इस व्यवहार कथन को ही परमार्थ/निश्चय कथन या कारण मान लिया जाये तो तत्त्व विरुद्धता होगी, क्योंकि शुभासव-बंध भाव को ही संवर-निर्जरा मान लिया तो फिर वीतराग भाग की पहिचान ही खो जायेगी। अर्थात् अतत्त्व श्रद्धान ही बना रहेगा। अतः आचार्यश्री को उपरोक्त भ्रम दूर कर लेना चाहिये। हाँ, सोनगढ़, जयपुर विचारधारा वाले विद्वानों में अध्यात्म-ग्रन्थों के अभ्यास में विशेष रुचि देखी जाती है, क्योंकि ‘आत्मा’ को ही समझना-समझाना है, न कि जड़कर्मों को। फिर भी वे ज्ञान की निर्मलता हेतु सभी आगम-अध्यात्मग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं।

आचार्य श्री की समूचे दि. जैन समाज की एकता की परिकल्पना तब तक

पूर्ण नहीं हो सकती जब तक वे सोनगढ़, जयपुर से प्रकाशित आगम-अध्यात्म ग्रन्थों का जिन मन्दिरों से हो रहे निष्कासन को नहीं रुकवाते। आज पूरे भारत को आचार्यश्री के प्रति (उनकी संयम एवं तत्त्वाभ्यास/स्वाध्याय के प्रति दृढ़ता के कारण) गर्व एवं आदर भाव है, किन्तु जब तक वे मिथ्यात्व की अकिंचित्करता, शुभोपयोग को संवर-निर्जरा स्वरूप मानने एवं सोनगढ़/जयपुर से छपे शास्त्रों के बहिष्कार/निष्कासन का समर्थन करते रहेंगे, तब तक एकता संभव नहीं है।

जिनवाणी के अविनय, बहिष्कार, निष्कासन की पीड़ा/वेदना आचार्यश्री को भी है, तब फिर वे सन् 1977-78 की भाँति एक आदेश/उपदेश समाज के नाम से क्यों नहीं पुनः निकाल देते हैं जिससे अभी इसी वर्ष आरोन (गुना, म.प्र.) में उनके ही शिष्यगणों द्वारा सोनगढ़/जयपुर साहित्य को मंदिरजी से निकलवाये जाने की घटना की पुनरावृत्ति नहीं हो।

मैं भी आगम-अध्यात्म ग्रन्थों के अभ्यास में अन्तःकरण से तीव्र रुचि रखता हूँ और निष्पक्ष भाव से तत्त्वार्थों का स्वरूप समझना चाहता हूँ। जो अभी तक 1966 से 1994 तक 28 वर्षों में मैंने सत्समागम द्वारा जो तत्त्वज्ञान श्रद्धान संपादित किया है, उसमें कहीं भी मूल में भूल नहीं दिखाई दी। व्यवहार चारित्र भी (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों की अनुकूलता अनुसार) धारण करने की तीव्र इच्छा/भावना है। तदर्थ विभिन्न धर्मायतनों में जा-जाकर देखा तो कहीं ज्ञान/अध्यात्म प्रधान शैली ही मुख्य/सर्वस्व हो रही है और कहीं व्यवहार क्रिया आचरण/आगम प्रधान शैली ही मुख्य/सर्वस्व हो रही है। दोनों ओर खींच है। कहाँ जाया जाये? पं. बनारसीदासजी का छन्द याद आता है -

“जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगा है, जो बिनु क्रिया मोक्ष पदचाहै।

जो बिनु मोक्ष कहै मैं सुखिया, सो नर अजान मूढ़नि में मुखिया ॥”

इसीप्रकार श्रीमद् राजचन्द्रजी का ‘आत्म-सिद्धि’ में पद है -

“कोई क्रिया जड़ थई रहा, शुष्क ज्ञान मा कोई।

माने मारग मोक्ष नो, करुणा उपजै जोई ॥”

आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने हम साधारण बुद्धि जीवों के हितार्थ अपने जीवन का उत्सर्ग/बलिदान कर जिनागम का सार समझाने वाला चारों अनुयोगों के कथनों में परस्पर सामंजस्य स्थापित कर दोष कल्पनाओं का

निराकरण देने वाला अपूर्व ग्रन्थ श्री मोक्षमार्गप्रकाशक लिखा है। उसे जो “पंडित” का ग्रन्थ बतलाकर उपादेय नहीं मानते, वे भी कहीं न कहीं मिथ्यात्व भाव के शिकार/पोषक हैं – ऐसा समझना चाहिये। अस्तु।

20-9-94 को आचार्यश्रीजी ने जो मुझ पर अनुकम्पा कर मुझे अपना अमूल्य समय तत्त्वचर्चार्थ प्रदान किया था, तदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी एवं कृतज्ञ हूँ। मेरी भावना है कि यदि वे ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय एवं नियमसार तथा अष्टपाहुड़, ग्रन्थों का उन पर उपलब्ध सभी आचार्यों की टीका का स्वाध्याय आदि से अन्त कर करा देवें/प्रारंभ करें और अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़े तो मैं भी समय निकाल कर उस स्वाध्याय-बाचना में पूरे समय उपस्थित रहकर स्वाध्याय करना चाहूँगा। अपनी ओर से कुछ भी नहीं जोड़ने की बात से मेरा तात्पर्य मात्र इतना ही है कि पू. जयसेनाचार्य देव ने आगम एवं अध्यात्म दोनों भाषाओं विवक्षाओं से टीकाएँ लिखी हैं। समझाया है, अतः वही हमें सर्वमान्य होना चाहिए।

उपरोक्त ग्रन्थों के अलावा मेरी भावना आगम ग्रन्थों गोमटसार, धवला, जयधवला आदि के भी विस्तार से पढ़ने की है किन्तु इसके लिए करणानुयोग विशेषज्ञ चाहिये, समय चाहिये, श्रम चाहिये। शाब्दिक परिभाषाओं का ज्ञान भी चाहिये। श्री गुरु गोपालदासजी बरैया चरित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका से काफी कुछ सामान्य जानकारी शब्दावली की हो जाती है। घर पर जितना बन पाता है स्वाध्याय किया ही करता हूँ।

चर्चा में यदि कुछ भूल, अपराध (प्रमादजन्य) हुए हों उन सबके लिए मैं आचार्यश्री से एवं आप (पं. राकेशकुमारजी शास्त्री) से हृदय से क्षमा चाहता हूँ।

आपका अपना

हेमचन्द्र जैन

विद्वान् पं. राजमलजी जैन की शंकाओं के आधार पर शंका समाधान

शंका 1. : शुभोपयोग किस गुणस्थान से किस गुणस्थान पर्यन्त होता है? प्रवचनसार में गाथा 157-60 की टीका में ‘क्षयोपशम’ शब्द आया है, वह मेरे विचार से ‘मन्द उदय’ अर्थ में आया है। स्पष्टीकरण करें।

समाधान :- “मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानोपर्युपरि मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधकः उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते। तदनन्तरम् अप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तम जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदेन विवक्षित एकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।

(द्रव्यसंग्रह टीका गाथा 34 पृष्ठ 96, प्रकाशन देहली, प्र. संस्करण 1953 ई.)

अर्थ :- मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र – इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभोपयोग रहता है। उसके आगे श्री असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक तथा प्रमत्तसंयत नामक तीन गुणस्थान हैं, इनमें परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक – ऐसा शुभोपयोग रहता है, जो इनमें ऊपर-ऊपर तरतमता से रहता है। इसके पश्चात् अप्रमत्तादि क्षीणकषाय तक 6 गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के भेद से शुद्धोपयोग वर्तता है, जो कि विवक्षित एकदेश शुद्धनय रूप होता है।

(ब) प्रवचनसार गाथा 9 की टीका में भी कहा है कि –

“गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादि शुभानुष्ठानेन तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्यः इति। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपंचप्रत्ययरूपाशुद्धोपयोग अशुभो विज्ञेयः। निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्यः।”

अर्थ :- गृहस्थ की अपेक्षा यथासंभव रागसहित सम्यक्त्वपूर्वक दान, पूजा आदि (शुभकार्यों के करने से) तथा मुनि की अपेक्षा मूल व उत्तर गुणों (को अच्छी तरह पालन करने रूप वर्तने में परिणमन करने) से शुभोपयोग जीव है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग – ऐसे 5 प्रत्ययरूप अशुभोपयोग है, उसमें परिणत जीव अशुभ है। निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग से परिणत जीव शुध है – ऐसा जानना चाहिये।

नोट :- यहाँ शुभोपयोग की परिणति में सराग सम्यक्त्वपूर्वक शुभकार्य करना कहा, न कि सम्यक्त्व रहित भी। तथा मुनि के शुभोपयोग में मूलोत्तर गुणों के अन्तर्गत गुप्ति आदि रूप निवृत्ति स्वरूप धर्म भी आते हैं, इतना विशेष है, मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्वादि पाँचों प्रत्यय नियम से रहते हैं, अतः वहाँ अशुभोपयोग नियम से रहा सिद्ध होता है।

(स) धवल पुस्तक 13 में स्पष्ट रूप से क्रियाकर्म (नमन, जिनस्तुति, वंदना, आवर्त आदि उपासना) चौथे गुणस्थान से ही बताया है। (प्रस्तावना पृ. 7, मूल ग्रन्थ पृ. 109, 110, 113, 123, 125, 144, 160, 180 - इन पृष्ठों में लिखा है कि यह शुभ क्रियाकर्म चौथे से सातवें में ही होता है, आगे-पीछे नहीं।)

(द) प्रवचनसार गाथा 181 टीका में भी 1 से 3 गुणस्थास्थान में अशुभोपयोग, 4 से 6 में शुभोपयोग तथा सातवें से शुद्धोपयोग कहा। यथा -

“मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येन अशुभपरिणामो भवति। अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः। अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि (पूर्वम्) भणितः।”

अर्थ :- प्रथम तीन गुणस्थानों में अशुभ परिणाम होता है। चौथे से छठवें में तारतम्य से शुभपरिणाम होता है तथा आगे सातवें से बारहवें तक तारतम्य से शुद्धोपयोग होता है।

(क) यह भी यहाँ ज्ञातव्य है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका में कहीं भी इन उपयोगों को गुणस्थानानुसार विभाजित नहीं किया, तथापि शुभोपयोग की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि -

“विशिष्ट क्षयोपशमदशाविश्रान्त दर्शनचारित्रमोहनीय-पुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीत शोभनोपरात्वात् परमभट्टारक महादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभः उपयोगः। (प्रवचनसार गा. 157 की टीका)।

जिसका अर्थ है :- विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से, शुभ उपराग का ग्रहण करने से जो उपयोग परमेशी की श्रद्धा में तथा सर्व जीवदया में प्रवृत्त है, वह

शुभोपयोग है।

इस टीका में भी यही भासित होता है। यहाँ ‘क्षयोपशम’ शब्द का उदय अर्थ कदापि नहीं होता। उदय से औदयिक भाव बनता है तथा क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव बनता है। करणानुयोग में ‘उदय’ अर्थ में ‘क्षयोपशम’ शब्द नहीं आता है। किंच मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोह का क्षयोपशम होता भी नहीं; क्योंकि वहाँ उदीयमान मिथ्यात्व प्रकृति में सर्वघाति द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक व चतुःस्थानिक ही स्पर्धक होते हैं। कारण यह कि मिथ्यात्व की जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट या अनुत्कृष्ट सर्व प्रकार की उदीरणा सर्वघाति ही होती है।

(जयधवल 11, पृष्ठ 37-38 तथा धवल 15/17)

इसीतरह चारित्रमोहकर्म का भी मिथ्यादृष्टि के क्षयोपशम भाव नहीं होता, क्योंकि जहाँ देशघाति स्पर्धकों से रहित तथा मात्र सर्वघाति स्पर्धक ही जिसके होते हैं - ऐसी अनन्तानुबन्धी आदि तीन चौकड़ियाँ जहाँ प्रतिक्षण उदित हैं, वहाँ क्षयोपशम कैसा? क्षयोपशम भाव के लिये तो यह आवश्यक है कि उस विवक्षित कर्म के देशघाति स्पर्धकों का तो उदय हो तथा सर्वघाति का अनुदय हो। (मिश्रप्रकृति को छोड़कर यह नियम सर्वत्र है।)

परन्तु प्रथम गुणस्थान में तो मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी; जिनके कि सर्वघाति स्पर्धक ही होते हैं, अतः इनकी उदीरणा व उदय सर्वघाति ही हैं। (-जयधवला 11/30-38) तो फिर इनके उदय से क्षयोपशमभाव प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अतः “क्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीय” पद से चतुर्थ आदि गुणस्थान ही गृहीत होते हैं। वहीं का राग, शोभन उपराग, शुभोपराग या शुभोपयोग है। यहाँ क्षायोपशमिक भाव ही मुख्यता से इसलिये कहा कि शेष सम्यक्त्वी (उपशम व क्षायिक) तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वियों की तुलना में; धान के गोदाम में एक दाने के पाषाण ही हैं। (-षट्खण्डागम, जीवस्थान, अल्प-बहुत्व 15-17, सर्वार्थसिद्धि 211, धवल 3/68 आदि) इसीप्रकार चारित्रमोह में भी क्षायोपशमिक भाव वाले यानि क्षायोपशमिक चारित्र वाले ही पाँचवें व छठे गुणस्थान में होते हैं, अन्य चारित्रवाले नहीं (देखो, धवल 5 भावानुगम में संयतासंयत व संयत के भाव) ऐसी विशिष्ट क्षयोपशम दशा में वर्तनेवाले

दर्शनचारित्रमोहनीय (यथायोग्य) रूप कर्म के अनुसार परिणति में लगा होने से वहाँ की भूमिका का वह राग भी शोभन है अर्थात् शुभ है। वैसा होने से वहाँ होनेवाला पंचपरमेष्ठी श्रद्धा तथा जीवदयाभाव शुभोपयोग है। (अमृतचन्द्राचार्य)

गाथा 159 में जो शुभ-अशुभ को मन्द व तीव्र उदयदशा में रहनेवाला कहा है, वह मात्र उस-उस स्वकीय भूमिका के राग अंश, कषाय अंश रूप शुभाशुभ की अपेक्षा कहा है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के गये बिना कैसा मन्द उदय? इन दोनों से संजात विपरीताभिनिवेश विषयभोगाकांक्षा परिणाम तथा प्रतिशोधभाव चले जाने पर ही परमार्थतः 'मन्द उदय' है।

(ख) 1. रत्नत्रय, आर्जवधर्म, दया धर्म.....मय भाव शुभभाव है।

(-रयणसार 64-65 दवत्थकाया....)

2. शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।

अर्थ :- अपहृत संयम नामक शुभोपयोग लक्षण वाले सरागचारित्र नामवाला होता है। (-द्रव्यसंग्रह, टीका 45)

3. 'शुभः धर्म्यम्' धर्मध्यान शुभभाव है। (-भावपाहुड़, मूल 76)
(मात्र मन्द कषाय भाव ही नहीं।)

4. एकदेश परित्यागः शुभोपयोगः इति एकार्थः।

सर्व परित्यागः.....शुद्धोपयोगः इति एकार्थः।

अर्थ :- सर्व परित्याग तथा शुद्धोपयोग एकार्थ वाचक शब्द हैं। तथा एकदेश त्याग और शुभोपयोग, ये एकार्थवाचक हैं। (-प्रवचनसार ता.वृ. 230)

इसी स्थल पर लिखा है - सरागचारित्रं शुभोपयोगः इति अर्थात् सरागचारित्र को शुभोपयोग कहते हैं। (न कि मात्र मन्दकषाय को)

- इन पाँच बिन्दुओं से स्पष्ट है कि शुभोपयोग में सम्यक्त्व या चारित्र परिणाम तथा रागांश दोनों गृहीत होते हैं। जिसे विस्तार से मुख्तार ग्रन्थ भाग-1, पृष्ठ 733-34, 777. 851-852 पर भी कहा गया है।

शुभोपयोग में इस रत्नत्रयांश से नियम से संवर अथवा संवर-निर्जरा तथा रागांश से नियम से आस्रव-बन्ध होते हैं। कहीं-कहीं शुभोपयोग के इस राग अंश को ही मुख्य करके मात्र शुभराग या विशुद्धि को भी शुभोपयोग कहा है, वह भी ठीक है। उस दृष्टि से यानि रागांशात्मक शुभोपयोग की दृष्टि से तो वह नियम

से बन्ध का ही कारण है। (येनांशेनास्य रागः पु.सि., अमृतचन्द्र)

उत्सर्गपवदि लक्षणं कथ्यते। स्वशुद्धात्मना सकाशान् अन्यत् बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रूपं सर्व त्याज्यं इति उत्सर्गो निश्चयनयः सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमः वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोगः इति तावन् एकार्थः।

तम असमर्थ पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं विभूति प्रासुतहारज्ञानोपरणदिकं गृहाति इति उपविदो व्यवहारनयः एकदेशपरित्यागः तथाच अपहृत संयमः सरागचारित्रं शुभोपयोगः इतियावत् एकार्थः।

उसी गाथा 230 में आगे अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग और उत्सर्गसापेक्ष अपवाद का लक्षण कहा है।

आ. अमृतचन्द्र भी कहते हैं - "हमेशा उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री से आचरण की सुस्थितता करनी चाहिये (वही गाथा) इसी का स्पष्टीकरण गाथा 231 की टीका में भी विस्तार से है। क्योंकि ऐसी मैत्री न हो तो आर्तध्यान संक्लेश होकर देवलोक में पूर्वपुण्य से तो उत्पन्न होगा पर संयमाभाव से महानलय होगा। अतः वह 'अपवाद निरपेक्षं उत्सर्गं त्यजानि शुद्धात्मभावना साधकं अल्पवेयं बहुबन्धं अपवादिसापेक्षं उत्सर्गं स्वीकारोति ऐसा भी कहा है। 281 ता.वृ.। यह सिद्ध करना है कि केवल सराग सम्यक्त्व या शुद्धात्मभावना साधक अपवादिरूप क्षकेवियोग ही नहीं होना वह गुणस्थानानुसार (उत्सर्गरूप शुद्धोपयोग भी होता है।

शंका 2 :- आगम में अनन्तानुबन्धी को द्वि-स्वभावी कहा है - यह लक्षणदृष्टि का कथन है या विवक्षा कथन है या पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में पृष्ठ 336-337 पर यह सिद्ध किया है कि "अनन्तानुबन्धी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती सो परमार्थ से है तो ऐसा ही उपचार से अनन्तानुबन्धी के भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।"

मेरे विचार से अनन्तानुबन्धी को द्वि-मुखी कहना विवक्षा है, लक्षणदृष्टि का कथन नहीं है।

समाधान :- (अ) धवल 6/38 पर दर्शनमोह के तीन ही भेद बताये - सम्यक्त्व, मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व। (दंसणमोहसस संतकम्मं तिविहःसम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि)। सात भेद नहीं बताये, जिससे कि अनन्तानुबन्धी 4

(अनन्तानुबन्धी - क्रोध, मान, माया, लोभ) को भी दर्शनमोह माना जाये।

(ब) धवल 16 पृष्ठ 341 व 415-16 में स्पष्ट कहा है कि मिथ्यात्व का प्रथम गुणस्थान में संक्रम नहीं होता तथा सासादन में भी अनन्तानुबन्धी के बँधते हुए भी मिथ्यात्वादि 3 का संक्रम नहीं बताया। (मिच्छत्तस्स संकायगो को होइ सम्माइट्ठि। सासणोवि दंसणमोहणीयस्स असंकायगो।)

अतः यह स्पष्ट है कि संक्रमण प्रकरण में भी अनन्तानुबन्धी को शुद्ध चारित्रमोह माना। अन्यथा दर्शनमोहरूप मानते तो प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के असंक्रम का प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि उससमय अनन्तानुबन्धी बध्यमान सजातीय प्रकृति उपलब्ध है, अतः मिथ्यात्व का उसमें संक्रम बन जाता, पर वैसा नहीं कहा। अतः सुस्पष्ट है कि संक्रम में भी अनन्तानुबन्धी को प्योर (शुद्ध) चारित्रमोह ही माना।

(स) आगम में आदि के 4 गुणस्थान में दर्शनमोह के उदय की विवक्षा करके सासादन में पारिणामिक भाव कहा। (सर्वार्थसिद्धि 1/8, गोम्मटसार जीव 11, धवल 1 पृष्ठ 169-70, षट्खण्ड 5/197) परन्तु यदि ये अनन्तानुबन्धी को भी दर्शनमोह मानते तो सासादन में उक्त स्थलों पर औदयिक भाव कहते।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि अनन्तानुबन्धी परमार्थतः (उक्त दृष्टियों से) मात्र चारित्रमोह का ही भेद है।

तथापि चूँकि प्रथम गुणस्थान में दो प्रकार का विपरीताभिनिवेश पाया जाता है - एक मिथ्यात्वजनित तथा दूसरा अनन्तासनुबन्धीजनित। (-धवल 1/165) इन दोनों के गये बिना त्रिकाल भी सम्यक्त्व नहीं हो सकता। अतः इस कारण अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक (अथवा प्रतिबन्धक अर्थ में ही घातक नाम देना) कहना बिल्कुल ठीक है। ये अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व का घात करती है तथा मिथ्यात्व से सम्बन्ध कराती है। (सम्यक्त्वं घ्नन्ति अनन्तानुबन्धिनः (-उपासका, 925) अनन्तं मिथ्यात्वं सम्बन्धयन्ति (-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 308, तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरी 8-9-)

धवला तथा गोम्मटसार के आधारभूत ग्रन्थ पंचसंग्रह (1/115) में भी लिखा है कि पढमो दंसणघाई अर्थात् प्रथम चौकड़ी अनन्तानुबन्धी दर्शन (सम्यक्त्व) की घातक (प्रतिबन्धक) है। इसी का अनुकरण गो.जी. 283, गो.क. 45,

पंचसंग्रह संस्कृत 1/204-5 आदि में है। धवला में भी कहा है कि एदे चत्तारि वि सम्मन्नचारित्ताणं विरोहिणो; दुविहसत्ति संजुत्तादो। अर्थ - चारों ही अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व व चारित्र दोनों की विरोधी हैं, क्योंकि अनन्ताबन्धी कषायों की शक्ति (धर्म) दो प्रकार की होती है। (धवला 6/42) फिर आगे उसकी युक्ति से सिद्धि की है। अन्त में सिद्ध किया है कि अतः अनन्तानुबन्धी की दर्शनमोहनीयता और चारित्रमोहनीयता सिद्ध है। (सिद्धं तस्स दंसणमोहणीयत्तं चारित्तमोहनीयत्तं च।) अनन्तानुबन्धी के गये बिना तीन काल में किसी को सम्यक्त्व हुआ नहीं तथा होता नहीं। तथैव अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्वी के उदय में आ जाय (चाहे मिथ्यात्व न भी आओ) तो भी उस जीव के सम्यक्त्व नाशित (नष्ट) हो जाता है (-गो.जी. 20, पंचसंग्रह 1/9) यह है महिमा अनन्तानुबन्धी की।

अतः प्रतिबन्धक कारण की परिभाषा अनन्तानुबन्धी में स्पष्ट लागू होने से अनन्तानुबन्धी परमार्थतः चारित्रमोह की प्रकृति होते हुए भी, चारित्र घातक होते हुए भी (मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. 499, धर्मपुरा, दिल्ली) और इसी की मुख्यता से आगम में कथन किया जाने पर भी (तस्य चारित्रावरणत्वात् - धवल 1/166); बाह्य का रण (जो कि अत्यन्त समीचीन व सुघटित है) की दृष्टि से वह नियम से सम्यक्त्व की भी घातक है, प्रतिबन्धक है। ज्ञानीजीव अन्तरंग कारण चारित्रघात करने में तथा बाह्य कारण (सम्यक्त्व घातने में) - इन दोनों कारणों रूप दो शक्तियों के अनन्तानुबन्धी में होने का सम्मान करते हैं - एक का भी अपलाप नहीं करते; क्योंकि बाह्य कारण का अपलाप करने पर समस्त कर्मद्रव्यों में जीव के प्रति फलदानशक्ति, भगवान की समवसरण में दिव्यध्वनि आदि सब प्रलापमात्र सिद्ध हो जायेंगे।

शंका 3 :- विसंयोजित अनन्तानुबन्धी वाला जीव मिथ्यात्व में आने पर एक आवली काल तक उसे अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता। उस समय बँधनेवाले मिथ्यात्व-प्रत्यय कर्मों में स्थिति-अनुभाग कौन डालता है? मिथ्यात्व ही डालता है - ऐसा उत्तर ठीक है क्या? इसका आगम प्रमाण है क्या?

समाधान :- उस समय प्रथम आवली कालवर्ती जीव के अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता। (गो.क.गा. 478, धवल 8/25, पंचसंग्रह 7 गा. 39 पृष्ठ

325 (ज्ञानपीठ) पंचसंग्रह गा. 305, पृष्ठ 438-39, गा. 329 वही ग्रन्थ, जयधवल 10/116-117, धवल 15/289 पृ. 4-5, धवल 15/81 स. 97 आदि) - यह वचन सर्वांगम सम्मत है।

उस समय अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होने पर भी मिथ्यात्व प्रत्यय प्रकृति के बंधने में बाधा नहीं है। मिथ्यात्व प्रत्यय (मिथ्यात्व के निमित्त से बंधनेवाली प्रकृतियाँ) प्रकृतियाँ 16 हैं - 1. मिथ्यात्व 2. हुंडकसंस्थान 3. नपुंसकवेद 4. असंप्राप्त संहनन 5. एकेन्द्रिय 6. स्थावर 7-8-9. विकलत्रय 10. आतप 11. सूक्ष्म 12. साधारण 13. अपर्याप्त 14. नरकगति 15. नरकानुपूर्वी 16. नरकायु (-गो.क. 95, धवल 7/10) परन्तु अधुवबन्धी प्रकृतियाँ भी (मिथ्यात्व सिवा पन्द्रह) ऊपर लिखी हुई में से है, अतः इन उपर्युक्त 16 ही प्रकृतियों का बन्ध एक साथ तो कभी भी सम्भव नहीं। अतः उक्त 16 प्रकृतियों में से मात्र 1 मिथ्यात्व ही धुवबन्धी है, अतः मुख्यतः उसकी अपेक्षा ही तता गौणतः शेष 15 प्रकृतियों की अपेक्षा भी नीचे कारणविनिर्णय किया जाता है।

अर्थ - समस्त मूल प्रकृतियों के अपने-अपने उदय से, समुत्पन्न परिणामों की ही अपनी-अपनी स्थिति के बन्ध में कारण होने से, उन्हीं की स्थितिबन्धा-ध्यवसान स्थान संज्ञा है - ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये। अतः मात्र कषायोदयस्थान ही स्थितिबन्धाध्यवसान स्थान नहीं है। (-वही, प्रमाण पंक्ति 16-17)

विशेष - यदि यह कहा जाय कि अनन्तानुबन्धी के निमित्त से बन्धनेवाली 25 प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान वाली हैं। वे फिर मिथ्यात्वी की प्रथम आवली में कैसे बँधेंगी क्योंकि वहाँ उस आवली काल में 25 प्रकृतियों के बंध की हेतुभूत अनन्तानुबन्धी तो उससमय है नहीं?

तो इसका उत्तर यह है कि उस सम्यक्त्व से पतित प्रथम आवली कालवर्ती मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व परिणाम तथा असंयत परिणाम - ये दो प्रत्यय तो हैं ही। उनसे ही वह मिथ्यात्व संबंधी 16, सासादन संबंधी 25 तथा असंयत सम्यक्त्व संबंधी 10 प्रकृतियों का बन्ध कर लेगा। कहा भी है - सासादने पच्चीस प्रकृतीनां अविरति प्रत्ययः प्रधानभूतः। कथम्भूतः? अविरतयः कारणभूताः। (-पंच संग्रह/ शतक गा. 488 समुतिकीर्ति की टीका) अर्थ - सासादन संबंधी 25 प्रकृति के बन्ध का कारण अविरति है।

मिथ्यात्व प्रत्यय 16 बंधनेवाली प्रकृतियों कर्मों के नाम	मूल कारण	इनके स्थिति बन्ध के कारण यानी प्रत्यय
		विशेष कारण (विशिष्ट प्रत्यय)
1. मिथ्यात्व	उदित कषाय (तीन या चार चौकड़ी, जो भी उदित हो)	मूल मोहनीय कर्म; जिसका कि उदय, मिथ्यात्व व कषाय के समन्वित रूप है। किसी एक रूप नहीं
2. नपुंसक वेद”.....”.....
3. नरकायु”.....	मूल आयुष्क कर्म; जो भी उदित हो
4. हुंडक संस्थान”.....	
5. असंप्राप्तः संहनन”.....	मूल नाम कर्म प्रकृति (अर्थात् 21 से लेकर 31 पर्यन्त संख्या वाले नामकर्म उदय स्थानों (गो.क. 588 से 592) में से एक उदयस्थान जो भी वर्तमान हो : उस समय उदित सकल नामकर्म प्रकृति का सामूहिक मिश्रित-अनुस्यूत उदय से संजात परिणाम) यानि नामकर्म प्रकृति समूह के उदय से संजात परिणाम।
6. एकेन्द्रिय”.....	
7. स्थावर”.....	
8.9.10. विकलत्रय”.....	
11. आतप”.....	
12. सूक्ष्म”.....	
13. साधारण”.....	
14. अपर्याप्त”.....	
15. नरकगति”.....	
16. नरकानुपूर्वी”.....	

(स्थितिबन्ध के मूल कारण व विशेष कारण : इस विभाजन के आधार धवल 11, 309 चरम पेट)।

निष्कर्ष - इसप्रकार मिथ्यात्व ही नहीं, सभी मूल प्रकृतियाँ उदित होकर स्थितिबन्ध की विशेष कारण बनती हैं। (उनुदित परकृतियों से जो जीव परिणाम हों वे, स्थिति बन्ध के विशेष कारण हैं, यह कथनाभिप्राय है।)

उक्त चार्ट का हेतुभूत आगम - सव्वमूलपयडीणं सगसगउदयादो समुप्पण्णपरिणामाणं सग-सग-ट्टिदिबंध-कारणत्तेण ट्टिदिबंधञ्जवसाणट्टाणसण्णिदाणं एत्थ गहणं कायव्वं।

(-परमपूज्य धवला पु. 11, पृष्ठ 310)

और अविरति का सद्भाव आवली कालवर्ती मिथ्यात्वी के भी होने से उस मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व, अविरति, शेष कषायों व योग से प्रथम व द्वितीय गुणस्थान संबंधी प्रकृतियों का बन्ध अनन्तानुबन्धी के उदय बिना भी हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि तो फिर अनन्तानुबन्धी की तो अकिंचित्करता सिद्ध हुई तो उसका उत्तर है कि नहीं, ऐसा नहीं है। अनन्तानुबन्धी कषाय स्थिति बन्ध की मूल कारणभूत कषायों में से ही एक कषाय (चौकड़ी) है, अतः उसके उदित होने पर मिथ्यात्व संबंधी एवं सासादन संबंधी आदि प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग में वर्धन या वैशेष्य अवश्य होता है। क्योंकि स्थितिबन्ध की मूल कारण कषायें हैं। (संकिलेस विसोहिट्टाणणिट्टिदिबन्ध मूलकारणभूदाणि - ध. 11/309) अतः मूल कारण में वैशेष्य आने पर तत्कार्य भूत स्थिति आदि में भी वैशेष्य होगा ही। इसप्रकार अनन्तानुबन्धी के अनुदय में भी मिथ्यात्वी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी आदि का बन्ध कर लेगा।

सत्य प्रतिलिपि

श्री

भोपाल

श्रीमान् आदरणीय आत्मार्थी पण्डित जवाहरलालजी शास्त्रीजी,
सादर जयजिनेन्द्र!

अत्र कुशलं तत्रास्तु। श्रीमान् आदरणीय ब्र. पं. भुवनेन्द्रकुमारजी शास्त्री बांदरीवालों का पत्र आया है कि उन्होंने आपको पत्र लिखा है, जिसमें उन्होंने आपसे अनुरोध किया है कि आप अपनी सुविधानुसार भोपाल पधारिये, जिससे हम सब आपसे साक्षात् लाभ ले सकें। श्रीमान् ब्रह्मचारीजी तथा मैं गत सप्ताह में कटनी श्रीमान् पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्रीजी से धर्मलाभ हेतु तथा वहाँ पर श्री वर्णी शोध संस्थान बनारस की मीटिंग थी, उसमें पधारे हुए विद्वानों से ब्रह्मचारीजी को मिलना था। वहाँ पर भी उनकी तथा मेरी भावना आपसे धर्मलाभ लेने की बनी। आपने श्रीमान् स्व. पं. रतनचन्दजी मुख्त्यारजी के अभिनन्दन ग्रन्थ का संपादन किया है, उसका मैंने स्वाध्याय किया है; उसके आधार पर कई प्रश्नों का समाधान करना है। उक्त ग्रन्थ को भी ब्रह्मचारीजी ने मुझको भेजने हेतु लिखा है, सो ठीक है। मैं सकुटुम्ब अभी श्री शिखरजी यात्रा पर जा रहा हूँ। पोस्टमैन उसको वापिस न कर दे, अतः आप अभी न भेजें। मैं वापिस आने पर पुनः आपको पत्र लिख दूँगा। आपसे मेरी तथा सब साधर्मियों की भावना है कि आप अपनी सुविधानुसार अवश्य ही भोपाल पधारिये।

इन्दौर से एक मुमुक्षु भाई ने प्रवचनसारजी की गाथा 157-158 श्री अमृतचन्द्राचार्यजी की टीका में शुभोपयोग और अशुभोपयोग के स्वरूप का कथन करते हुए विशिष्ट क्षयोपशमदसा में रहनेवाले तथा विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग है। - ऐसा लिखा है।

उक्त टीका के आधार पर निम्न प्रश्न लिखे हैं -

(1) क्या शुभोपयोग क्षयोपशमभाव है। (2) क्या वह मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। (3) क्या सम्यक्दृष्टियों को अशुभोपयोग नहीं होता। (4) शुभराग-अशुभराग और शुभोपयोग-अशुभोपयोग में क्या भेद है। (5) क्या सम्यक्दृष्टि को अशुभराग होता है। (6) क्या मिथ्यादृष्टि को शुभराग होता है।

मैं पूर्वापर गाथाओं के आधार पर चिन्तन कर निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ।

क्या वह ठीक है? आचार्यदेव ने गाथा नं. 155 में परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है। वह उपयोग शुद्ध-अशुद्ध दो प्रकार का है। उसमें शुद्ध निरुपराग है और अशुद्ध सोपराग है। वह अशुद्धोपयोग शुभ-अशुभरूप से दो प्रकार का है, क्योंकि उपराग विशुद्ध (मंदकषाय) संक्लेषरूप (तीव्रकषाय) दो प्रकार का है।

गाथा नं. 156 में आचार्यदेव ने यह दर्शाया है कि शुभोपयोग मंदकषाय पुण्यरूप परद्रव्य का और अशुभोपयोग तीव्रकषाय पापरूप परद्रव्य का संयोग का कारण होता है और शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का अकारण है। श्री जयसेनाचार्यदेव ने इन गाथाओं की टीका के अन्त में लिखा है कि इसतरह शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग का सामान्य कथन करते हुए दूसरे स्थल में दो गाथायें समाप्त हुईं। मेरे विचार से इस गाथा में सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि की मुख्यता नहीं है - सिर्फ स्वरूप का वर्णन है।

मूल गाथा नं. 157/158 में आचार्यदेव ने शुभोपयोग-अशुभोपयोग का सामान्य स्वरूप व उसके आश्रय (विषय) का ही वर्णन किया है, परन्तु उनकी टीकाओं में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने उनके अन्तरंग निमित्त कारणों की भी विशेषता दर्शायी है; क्योंकि अशुद्धोपयोग सहज स्वरूप से विपरीत होने के कारण एक जाति का होने पर भी उनके भेद-विशेष की अपेक्षा से शुभोपयोग-अशुभोपयोग में भाव-भिन्नता मंद-तीव्रता है तो उसके कारणों में भी भेद होना चाहिये। (श्री जयसेनाचार्य ने निमित्त कारण का वर्णन न करके उनके बाह्य आश्रय कारण का ही वर्णन किया है।)

शुभोपयोग का कारण क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ-उपराग होता है - मेरे विचार से अशुभोपयोग से शुभोपयोग के निमित्त कारण की भिन्नता दर्शाने के लिए 'विशिष्ट क्षयोपशम' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मों के अनुभाग असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इसमें दारु भाग के अनन्तवां भाग प्रमाण नीचला स्पर्धकों का अनियम उदय होने से बुद्धिपूर्वक गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर - व्यवहार रूप से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा तत्त्वों की श्रद्धादि करता है, पूजा भक्ति आदि कार्य करता है और त्रस स्थावर जीवों की दया पालता है। ऐसा जीव व्यवहाराभासी, सम्यक्त्व के सन्मुख व सम्यग्दृष्टि

जीव भी हो सकता है।

गाथा नं. 158 की टीका में अशुभोपयोग का स्वरूप वर्णन दिया है; उसमें विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप कर्मों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभोपयोगरूप परिणमन करता हुआ उन्मार्ग की श्रद्धा करता है और विषय-कषायादि व कुसंगति-कुविचारों में लगा रहता है।

गाथा नं. 159 में अशुद्धोपयोग का निमित्त कारण मंद-तीव्र उदयदशा में रहनेवाला परद्रव्यानुसार (द्रव्यकर्मानुसार) परिणति के आधीन होने से प्रवर्तित होता है। इस गाथा में अशुद्धोपयोग के भेदरूप शुभोपयोग-अशुभोपयोग का कारण विशिष्ट क्षयोपशम या उदयदशा में रहनेवाले दर्शन चारित्रमोहनीय का कथन न करके मंदतीव्र दशा का कथन किया है। इससे ऐसा लगता है कि गाथा 157-158 में जो विशिष्ट क्षयोपशम उदयदशा का कथन किया है, उसका मतलब मंद-तीव्र कर्मोदय से ही है, जो कि सम्यग्दृष्टि या व्यवहार सम्यग्दृष्टियों में भी अपने-अपने पद के योग्य घट जाता है।

कुछ विज्ञान गाथा 157 के आधार पर व्यवहार ब्रत-नियम-संयमादि को क्षयोपशम भाव कहते हैं, जिससे इन भावों से संवर भी होता है - बंध भी होता है। यह औदयिक भाव नहीं है - क्या यह ठीक है?

कुछ विद्वानों का कहना है कि शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं। मिथ्यादृष्टि को शुभोपयोग होता है, जिससे वह उच्च गतियों में जन्म लेता है - क्या यह ठीक है? मेरे विचार से यह कहना मुख्यता की अपेक्षा हो सकता है; तारतम्यता की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को भी शुभोपयोग-अशुभोपयोग, शुभयोग-अशुयोग होता है। मो. मा. प्रकाशक पृ. 277 पर लिखा है कि मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवालों को पापजीव कहा है और असंयतादि गुणस्थान वालों को पुण्यजीव कहा है, सो मुख्यता से ऐसा कहा है, तारतम्यता से दोनों के पुण्य-पाप यथासंभव होते हैं।

श्रीमान् आदरणीय स्व. पं. फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीजी द्वारा लिखित अकिंचित्कर परिशीलन पुस्तक के आधार पर भी प्रश्न आया है; जो निम्नप्रकार है -

उक्त पुस्तक में मुझे इस बात का हल नहीं मिला कि स्थिति-अनुभाग कौन डाल सकता है - मूलाचार की गाथा 968 (अकिंचित्कर अनुशीलन पृष्ठ 42) का प्रमाण देकर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु यह सिद्ध नहीं होता है। उनमें

रति, राग आदि सभी कर्मों के बंध के सामान्य प्रत्य है - यह मानकर भी टीकाकार ने कषाय को ही स्थिति-अनुभाग का कारण स्वीकार किया है। एक प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि मिथ्यात्व में अपनी प्रकृति के अनुसार ही अनुभाग पड़ता है या कषाय की प्रकृति के अनुसार भी? क्या उसमें दो अनुभाग डाले जाते हैं? यदि मिथ्यात्व कषाय का काम कर सकती है तो एक आवली के बाद कषाय के उदय आ जाने पर भी उसका कार्य जो मिथ्यात्व कर ही रहा है तो कहना होगा कि अनन्तानुबन्धी अकिंचित्कर है, यह मान्य हो सकेगा क्या?

प्रत्येक कर्म में अपने प्रकृति बंध के अनुसार ही अनुभाग के हानि-वृद्धि की प्राप्ति होती है, यही माना जाता है। यदि एक प्रकृति दूसरी प्रकृति का काम करने लगे तो प्रकृति भेद ही क्यों हो? केवल एक अपवाद है कि अनन्तानुबन्धी द्विमुखी है, ये चारित्र और सम्यक्त्व दोनों का घात करती है, पर मिथ्यात्व को द्विमुखी कहीं नहीं लिखा गया।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय आदि को सामान्य प्रत्यय भी लिखा है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड का प्रत्ययाधिकार देखिये - 786-787-788 - इन सबके देखने के बाद यह तो कह सकते हैं कि मिथ्यात्व अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं, अकिंचित्कर नहीं कहना चाहिये, पर वह कषाय को प्रभावित करते हुए भी स्वयं कषाय का काम करता है - यह तो मानना योग्य नहीं है। मैंने जो अंश पुस्तक के देखे हैं, उसमें कोई प्रमाण ऐसा नहीं है, जिसमें स्पष्टतया मिथ्यात्व को स्थिति-अनुभाग डालने का उल्लेख हो। आपने देखा हो तो लिखिये मय पृष्ठ संख्या के।

मेरे विचार से पंडितजी ने अकिंचित्कर पुस्तक में पृष्ठ 41-41 पर पंचास्तिकाय गाथा 148 (श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका) में तथा मूलाचार उत्तरार्द्ध में स्पष्ट रूप से स्थिति-अनुभाग बंध में मिथ्यात्व को निमित्त कहा है - ऐसा प्रमाण किया है। पंचास्तिकाय की टीका की अन्तिम पंक्ति में 'अथ यतः कारणात्कर्मादान रूपेण प्रकृति-प्रदेशबन्ध हेतुस्ततः.....स्थित्यनुभागबंध हेतुत्वादभ्यंतरकारणं कषाय इति तात्पर्यः।' पण्डितजी ने इस पंक्ति का उल्लेख अकिंचित्कर पुस्तक में नहीं किया है। इस पंक्ति के आधार पर यह निर्णय-निष्कर्ष निकलता है कि आचार्यदेव ने रति, राग, द्वेष व मोह भावों से कर्मों का स्थिति-अनुभाग बंध लिखा है, परन्तु उनका अभिप्राय बंध के सामान्य प्रत्यय से ही है - क्योंकि अन्त

में आचार्य ने स्थिति-अनुभाग बंध का अन्तरंग कारण कषाय को ही माना है।

मेरे विचार से जिसप्रकार पं. टोडरमलजी ने मो.मा. प्रकाशक पृष्ठ 26 पर "मोहनीय कर्म के द्वारा जीव को अयथार्थ श्रद्धान रूप तो मिथ्यात्व भाव होता है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय भाव होते हैं इन भावों से नवीन बंध होता है; इसलिये मोह के उदय से उत्पन्न भाव बंध के कारण हैं।" पृष्ठ 27 पर "तथा मोह के उदय से मिथ्यात्व, क्रोधादिक भाव हैं, उन सबका नाम सामान्यतः कषाय है, उससे उन कर्म प्रकृतियों की स्थिति बंधती है....." पृष्ठ 28 पर "..... अनुभाग बंधता है", (अकिंचित्कर पृष्ठ 38 पर इसका उल्लेख किया है।)

श्री पं. दीपचन्दजी कासलीवाल द्वारा रचित भावदीपिका पृष्ठ 33 (प्रकाशक पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर 1987) पर आस्रवतन के वर्णन में लिखा है - "बहुरि कर्मनिविषे स्थिति-अनुभाग बंध का कारण ऐसी मिथ्यात्व अकषाय अव्रत विशेष को धरें राग-द्वेष भाव, तिनकूं भी आस्रव कहिये।"

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय मात्र का उदय स्थिति-अनुभाग बंध का कारण है; जो औदयिक विकारी भाव है। इसका भेद करके देखें तो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय का भेद हो जाता है। सामान्यतः देखें तो मोह या (अंतदीपक) कषाय को भी स्थिति-अनुभाग बंध का कारण कहते हैं।

मेरा प्रश्न है - आगम में अनन्तानुबन्धी को द्विस्वभावी कहा है - यह लक्षण दृष्टि का कथन है या विवक्षा है (श्री पं. टोडरमलजी ने मो.मा. प्रकाशक पृष्ठ 336/337 पर सिद्ध किया है कि अनन्तानुबन्धी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती सो परमार्थ से है तो ऐसा ही..... उपचार से अनन्तानुबन्धी के भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।) मेरे विचार से अनन्तानुबन्धी को द्वि-मुखी कहना विवक्षा है, लक्षणदृष्टि का कथन नहीं है।

आपसे सविनय अनुरोध है कि कृपया आप अपनी सुविधानुसार भोपाल पधारिये। हम आपकी यहाँ अनुकूल व्यवस्था करेंगे। आप सूचित कीजियेगा। हम आपको लेने को भी आ जायेंगे। सर्व साधर्मियों को सादर जय जिनेन्द्र।

शेष शुभ! पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में।

- राजमल जैन